रसाभिव्यक्ति

[रीति-गुण, वक्रोक्ति, आचार्य अभिनव गुप्त निरूपित रस प्रक्रिया]

828.2
द्विवे/दार

डॉ० दशरथ द्विवेदी

रसाभिव्यक्ति

डॉ० दशरथ द्विवेदी
आचार्य एवं अध्यक्ष संस्कृत-विभाग,
दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय,
गोरखपुर

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

RASABHIVYAKTI

by

Dr. Dasharath Dwivedi

ISBN : 81-7124-294-4

© लेखकाधीन

प्रथम संस्करण : २००१ ई०

प्रकाशक

विश्वविद्यालय प्रकाशन

चौक, वाराणसी–221 001

फोन व फैक्स : (0542) 353082, 353741

E-mail : vvp@vsnl.com ● E-mail : vvp@ndb.vsnl.net.in

मुद्रक

वाराणसी एलेक्ट्रॉनिक कलर प्रिण्टर्स प्रा० लि०

चौक, वाराणसी–221 001

भूमिका

चित्रजगत् में परिव्याप्त समस्त कलायें शिव-शक्ति का समुल्लास हैं। सत्य, सनातन, विभु भगवान् शिव स्वयं मङ्गलमय हैं। मङ्गल में प्रीति का, आनन्दापरपर्याय रस का संविधान सन्निहित है। प्रज्ञापरपर्याय भगवती शक्ति स्वयं त्रिपुरसुन्दरी हैं। इसीलिये कला कोई भी हो उसमें शिव का, सत्य का, सौन्दर्य का साक्षात्कार होता है—सत्यं शिवं सुन्दरम्। यह कला चित्रकला भी हो सकती है मूर्तिकला भी। सङ्गीतकला भी हो सकती है, काव्यकला भी। कलाकार शिवमय होता है, उसमें शक्ति अपनी समग्र विभूतियों के साथ विराजमान रहती है। रचनाक्षण में शक्तितरङ्गित रसोल्लसित शिवकलाकार जो भी लिखता है, गढ़ता है या चित्रित करता है वह अलौकिक होता है। अलौकिक इस अर्थ में होता है कि वह निर्मिति देश-काल-व्यक्तिविशेष से समन्वित होने पर भी उससे परे सर्वसामान्य होती है। सभी को वह तृप्ति प्रदान करती है। उसमें सभी की चित्तवृत्ति निमग्नाकारिक हो सकती है, निमग्न हो जाती है। इसलिये रचनाकार का दायित्व कभी-कभी विधाता से भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है—अहो भारो महान् कवेः।

काव्यकला में कविकर्म ही प्रधान है। समग्र चित्रसम्भार के रहते भी चित्रनिर्माण में चित्रकार की भूमिका ही प्रधान होती है। काव्यरचना का संसार, रचना का सम्भार शब्दार्थ ही हैं। शब्दार्थोपधानपूर्वक ही कोई रचना प्रकाश में आती है। त्रिविधविग्रह पराभगवती शब्द शक्ति निरवधि हैं। इसीलिये उनकी अर्थभूत शिव भी निरवधि हैं। वर्ण्यविषयानुरूप जिस शब्द का, सावधान कवि चयन करता है वह हजारों शब्दों में एक और निरवधि अर्थसन्तान का सम्पादक होता है क्योंकि दोनों ही निरवधि शिवशक्त्यात्मक हैं। शब्द की महिमा अनन्त है, अर्थ की कोई सीमा नहीं। महाकवि वाल्मीकि, व्यास और कालिदास जैसे कालजयी महाकवियों की रचनाओं में इसका साम्राज्य सन्निहित है।

संस्कृत काव्यशास्त्र का जन्म नाट्य के परिप्रेक्ष्य में हुआ। नाट्य का प्रयोजन था विश्रान्तिजनन। काव्य को भी नाट्यायमान माना गया और स्वीकार किया गया कि समग्र रचनाओं का परम प्रयोजन आनन्द या रस ही है जिसे प्रीति भी कह सकते हैं, मन की विश्रान्ति भी—सकल प्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव विगलितवेद्यान्तरमानन्दम्। नाट्य में रसापादन का मुख्य व्यापार है अभिनय, और काव्य में शब्दार्थबोधिका शक्ति। शक्तियों में अभिधा ही प्रधान है, मुख्य है। अपर शक्तियाँ लक्षणा और व्यञ्जना गौणवृत्ति हैं या फिर अभिधा की भित्ति पर टिकी हुई। इसीलिये नाट्यशास्त्रकार भरत ने रसनिष्पत्ति की प्रक्रिया में लौकिक व्यञ्जन का उदाहरण प्रस्तुत किया। इसलिये ऐसा किया क्योंकि नाट्य सार्ववर्णिक था, सबके लिये था और सामान्यजन अभिधामुखी होता है। संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रारम्भिक आचार्य नाट्यशास्त्रीय परम्परा से जुड़े रहने के कारण काव्य में अभिधा को ही प्रधान मानते रहे। इसलिये भी वे

अभिधामुखापेक्षी थे क्योंकि मीमांसक अभिधावादी थे, अभिधा का ही साम्राज्य था। इन आचार्यों की दृष्टि शब्दार्थशरीर काव्य पर टिकी हुई थी। शब्दार्थशोभकारी जितने भी तत्त्व हो सकते थे, इनकी दृष्टि में सभी को अलङ्कारकुक्षि में डालने के पक्षपाती थे। अभिधान के प्रकारविशेष ही अलङ्कार कहे जाते हैं। अलङ्कारों का रस से गहरा सम्बन्ध है। भावों की अभिव्यक्ति भाषा में ही होती है। भाषा का उपकरण शब्दार्थ ही हैं। भावों को उद्दीप्त करने में अभिधानविशेष की महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है। यह भूमिका ही अलङ्कारसृष्टि का उत्स और रसोद्दीपन का सामर्थ्य रखती है। इसीलिये प्राचीन आलङ्कारिकों भामह प्रभृति ने अलङ्कारमुखेन रस की व्याख्या की, अभिधामुखेन रसप्रक्रिया का निरूपण किया। अभिनवगुप्त के द्वारा अभिनवभारती में रस सूत्र की व्याख्या में जिन 'भट्टलोल्लटप्रभृतयः' की चर्चा की गयी है उन 'प्रभृतिवर्ग' में भामह, दण्डी, उद्भट प्रभृति आचार्यों को ही उन्होंने दृष्टि में रखा था। भट्टलोल्लट आदि जब रत्यादि की परिपुष्टि को रस कहते थे तब उनका अभिप्राय यही था कि अलङ्कारादि से ही रसों का उद्दीपन, प्रकःशन या परिपोष होता है। रत्यादि के परिपोष में रसादि की उत्पत्ति के उदाहरण में अभिनवगुप्त द्वारा दण्डी की निम्न कारिकाओं को उद्धृत करने का तात्पर्य इसी में था—

रूपबाहुल्ययोगेन रतिः शृङ्गारतां गता।

तथा—अधिरुह्य परां कोटिं कोपो रौद्रात्मतां गतः। भामह द्वारा 'रसवद्दर्शितस्पष्ट-शृङ्गारादि रसोदयम्' का रहस्य भी यही था। इस प्रकार रसोत्पत्ति या उसकी अभिव्यक्ति प्राचीन आचार्य नाट्यशास्त्रकार की दिशा से अभिधामुखेन ही करते थे और मानकर चलते थे कि अलङ्कार रससृष्टि के प्रधान उपकरण हैं—

प्रायः सर्वोऽप्यलङ्कारो रसमर्थे निषिञ्चति।

उद्भटकृत रसवद् की व्याख्या तथा वामनोक्त विविध काव्यपाकों को भी इसी सन्दर्भ में देखा जाना चाहिए।

भावभूमि के आधार पर रसानुभूति की प्रक्रिया में अन्तर हो सकता है किन्तु रसाभिव्यक्ति की प्रक्रिया में नहीं। अभिव्यक्ति को उत्पत्ति, अनुमिति, भुक्ति या अभिव्यक्ति कहा जाना काव्यनाट्यजनित रस की व्याख्या में दृष्टिभेदमात्र है। अतः प्राचीनों की दृष्टि में अलङ्कारमुखेन अभिधाशक्तिसमुल्लसित रत्यादि परिपुष्टि, रसोत्पत्ति को जब इस ग्रन्थ में रसाभिव्यक्ति के नाम से प्रस्तुत किया गया है तब 'अभिव्यक्ति' अभिनवगुप्त की अभिव्यक्ति नहीं है, न ही अभिव्यक्ति की शास्त्रीय अवधारणा है प्रत्युत रससृष्टिमात्र है। गुणालङ्कारारीत्यादि रससृष्टि में प्रमुख भूमिका निभाते हैं। अतः इस पुस्तक में प्रथम शोधनिबन्ध इन्हीं विषयों को लेकर रखा गया है जिसमें गुणरीति को प्रधानतः, अलङ्कार की अनुषङ्गतः विवेचना की गयी है।

भामह की लोकातिक्रान्तगोचर अर्थविभावन का आधारभूत 'वक्रोक्ति' को लेकर आचार्य कुन्तक ने प्राचीन आचार्यों की काव्यदृष्टि को न केवल पुनः प्रतिष्ठित

किया प्रत्युत ध्वनिवाद के प्रभाव से अभिधावृत्ति और अलङ्कार की आभा जो अशंत: क्षीण या धूमिल-सी हो चली थी उसे पुन: उद्दीप्ति प्रदान की। गुणालङ्कारसंस्कृत शब्दार्थकाव्यशरीर के पक्षपाती भी ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन ने त्रिविध ध्वनियों में प्रधान रसादिध्वनि को काव्यात्मा और अलङ्कार्य तथा अलङ्कारों को शोभाधायक बाह्योपकरणमात्र कहकर काव्य में अलङ्कारों की अनिवार्यता समाप्त कर दी थी। ऐसे में आचार्य कुन्तक ने शब्दार्थ को अलङ्कार्य तथा रसालङ्कार सभी को उसका वक्रोक्ति स्वरूप अलङ्कार सिद्धकर ध्वनिकार के प्रबुद्ध विवेचन को न केवल न्यक्कृत किया प्रत्युत द्योतक, व्यञ्जक शब्द और द्योत्य व्यङ्ग्य अर्थों को मानकर भी अर्थप्रतीतिकारित्वसामान्य के आधार पर उन्हें भी वाचक और वाच्य के पक्ष में डाल दिया। व्यङ्ग्यार्थ का अपलाप किये बिना भी उन्होंने विचित्राभिधा वक्रोक्ति के षड्भेदों में समग्र ध्वनिप्रपञ्च को पचा लिया। समस्त चित्रोपकरण के रहते चित्रनिर्माण में चित्रकार की ही प्रधान भूमिका के समान समस्त काव्यकरणकलाप में कविकर्म को ही प्रधान मानते हुए कुन्तक ने कविप्रस्थान हेतु मार्गत्रय में प्राणायमान वक्रोक्ति के मार्ग-गुणों में ही लावण्यप्रख्यध्वनिकार की प्रतीयमानता का सौन्दर्य डालकर अर्थालङ्कार उत्प्रेक्षाप्रभृति की व्याख्याप्रसङ्ग में रस का सुन्दर समुल्लास, तदाधारभूत जड-चेतन भावों के व्यासङ्ग में रसाहित सुख का निरूपण कर पूर्वाचार्यों के रसवदादि का खण्डन करते हुए उसकी जो नूतन व्याख्या की सभी में एकमात्र अभिप्राय अनुस्यूत है रसाभिव्यक्ति। आदरणीय गुरुभाई डॉ० एच०एन० दीक्षित के निर्देश पर उनके द्वारा सम्पादित 'संस्कृत काव्यशास्त्र मीमांसा' के लिए 'वक्रोक्ति' शोध-निबन्ध मैंने लिखा था। कृपापूर्वक उन्होंने इसे छापा भी था। प्रस्तुत पुस्तक में मैंने रसाभिव्यक्ति के सन्दर्भ में उसे भी स्थान देना उचित समझा। मेरी दृष्टि में संस्कृतकाव्यशास्त्र में तत्त्वों का व्याख्याता कुन्तक जैसा कोई भी नहीं हुआ। ध्वनिकार से कम आदर उन्हें नहीं मिलना चाहिए।

'काव्यस्यात्मा ध्वनि:' आचार्य आनन्दवर्द्धन का यह उद्घोष या घोषणामात्र नहीं था। ध्वनिकार ने अपनी सयुक्तिकव्याख्या और उपयुक्त निदर्शनों द्वारा इसे सम्यक् प्रतिष्ठित भी किया। रसादि की वह भूमिका, जो नाट्य या काव्य में निर्वाह्य होती है, महाकवियों ने जिसका निर्वाह किया भी है ध्वनिकार ने न केवल उसे समझा, सम्यक् व्यवस्थित भी किया। काव्य में वस्तु-अलङ्कार की भूमिका को बिना नकारे उसे किञ्चिन्न्यक्कृत करते हुए भी आपने रसादि को अलङ्कार्य काव्यात्मा तथा गुणालङ्कार को लोकस्थित गुणालङ्कारसम व्यवस्थापित कर जो व्यवस्था व्यवस्थित की प्राय: सभी परवर्ती आचार्यों ने उसे स्वीकार भी किया। ध्वनिकार के विरोध में आचार्य कुन्तक ने एक अभिनव सिद्धान्त खड़ा तो अवश्य किया, उनका विवेचन भी कम गम्भीर नहीं था पर, उसे वैसी अपेक्षित मान्यता नहीं मिल पायी। महिमभट्ट का अनुमितिवाद भी कम स्पृहणीय नहीं था। उनकी सदर्प विवेचनपद्धति उस प्राग्विपाट् से कम महत्त्वपूर्ण नहीं

है जो वादी की युक्तियों को लेकर ही उसके पक्षों का खण्डन कर देता है। परममाहेश्वर शक्तिसमुल्लसितप्रज्ञोपेत आचार्य अभिनवगुप्त की शैवागममण्डित ध्वनिप्रपञ्च की गुरुगम्भीर व्याख्या तदनु आचार्य मम्मटकृत ध्वनिसमर्थन में महिम की महिमा भी निमज्जितप्राय हो गयी।

भरतमुनि के नाट्यशास्त्र तथा आनन्दवर्द्धन के ध्वन्यालोक पर अभिनवगुप्तकृत क्रमशः दो टीकाओं 'अभिनव भारती' तथा 'लोचन' पर रसप्रपञ्च का भव्य प्रासाद सुप्रतिष्ठित है। रससूत्र की पुष्कल व्याख्या के लिये अभिनवगुप्त अपने पूर्ववर्ती व्याख्याकारों के ऋणी हैं, इसे वह स्वीकार करते भी हैं। इस पर उनकी महत्त्वपूर्ण उक्ति किसी भी विपश्चित् के लिये मार्गदर्शक की भूमिका में है—

ऊर्ध्वोर्ध्वमारुह्य यदर्थतत्त्वं धीः पश्यति श्रान्तिमवेदयन्ती।
फलं तदाद्यैः परिकल्पितानां विवेकसोपानपरम्पराणाम्॥
तस्मात् सतामत्र न दूषितानि मतानि तान्येव तु शोधितानि।
पूर्वपतिष्ठापितयोजनासु मूलप्रतिष्ठाफलमामनन्ति॥

यद्यपि अपने कथन के विपरीत अभिनवगुप्त ने पूर्वाचार्य शङ्कुकप्रभृति के मतखण्डन में कोई कसर बाकी नहीं रखी है तथापि 'वादे-वादे जायते तत्त्वबोधः' की भावना से मण्डित उनके अभिप्राय और सिद्धान्तविवेचन का अपलाप नहीं किया जा सकता। रसाभिव्यक्ति और रसानुभूति की प्रक्रिया में कवि, अभिनेता, तथा प्रेक्षक या पाठक की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। अभिनवगुप्त इन तीनों की त्रिपुटी के प्रज्ञोपेत, नाट्यकुशल और विमलप्रतिभानशालिहृदय होने की आवश्यकता का, साधारणीकरण का, सहृदयता का निरन्तर समुल्लेख करते हैं। नाट्य तथा काव्य का समग्र सौन्दर्य-साम्राज्य चतुर्विध अभिनय तथा शब्दार्थबोधक वृत्तियों, विशेषकर व्यञ्जनावृत्ति के कुशल प्रयोग पर अवलम्बित है। शक्तिसमुल्लसित स्थाय्यात्मक शिव से संवादाहित प्रमाता में आनन्दघनप्रकाशपरमोल्लास का समुल्लास ही रस है। आचार्य भरत के अनुसार नाना प्रकार के अन्नौषधजल के संयोग से व्यञ्जन सम्पन्न होता है। उसका भोग करने वाले सौभाग्यशाली सुमनजन ही होते हैं, और वे हर्ष को भी प्राप्त करते हैं, यही स्थिति सार्ववर्णिक नाट्यरस की भी है। नाना प्रकार के विभावादियों के संयोग से यहाँ भी रस की निष्पत्ति होती है, उसका भोग करनेवाले सहृदय सुमनाव्यक्ति होते हैं, और वे परमानन्दित होते हैं। व्यञ्जन के उदाहरण में जलतत्त्व की प्रधानता होती है। जल (रस) के समान स्थायी ही व्यञ्जित होता है, अभिव्यक्त होता है, भोग या उसी का साक्षात्कार किया जाता है। व्यञ्जन का भोग तो सभी करते हैं पर, आस्वादन विरले ही कर पाते हैं। ठीक यही स्थिति रसास्वाद की भी है। नाट्य-काव्य का श्रवण-पठन-प्रेक्षण तो सभी करते हैं किन्तु उसका आनन्द, आस्वाद विरले ही प्राप्त कर पाते हैं।

आचार्य अभिनवगुप्त शैवागम की पृष्ठभूमि में रसाभिव्यक्ति, रसानुभूति और रस की अलौकिकता का विवेचन करते हैं। उनका प्रमाता भी शैवागम निरूपित है।

'रसाभिव्यक्ति' शीर्षक से विद्वज्जन के समक्ष यह लघुपुस्तक उपर्युक्त पर किञ्चित् प्रकाश डालती है। काव्यशास्त्रपण्डित प्रो० सुरेशचन्द्र पाण्डेय, पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय के संयोजकत्व में राष्ट्रीय अध्ययन-संस्थान, शिमला में आयोजित अखिल भारतीय संगोष्ठी में प्रस्तुत 'अभिनवगुप्तनिरूपित रसप्रक्रिया' विषयक शोधनिबन्ध इस ग्रन्थ का तीसरा निबन्ध है। ग्रन्थ में सम्मिलित तीन निबन्धों में प्रधानतः अन्तिम ही रसाभिव्यक्ति के लिए लिखा गया था अन्य दो यथालिखित विषयों की विवेचना में। गुण-रीति-अलङ्कार वक्रोक्ति का विवेचन भी अन्ततः रसाभिव्यक्ति के लिये ही हुआ है। इसलिये इस लघु ग्रन्थ का अभिधान 'रसाभिव्यक्ति' रखा गया है। पुस्तक में दो परिशिष्ट भी जोड़े गये हैं जो जिज्ञासुजनोपयोगी हैं। प्रथम डॉ० नोली की पुस्तक, 'एस्थेटिक इक्सपीरियन्स एकार्डिङ्ग टू अभिनवगुप्त' की भूमिका का हिन्दी अनुवाद डॉ० नगीन पारिख के ग्रन्थ से साभार प्राप्त है। द्वितीय भरतमुनि के नाट्यशास्त्र का अभिनवभारती समेत रसाध्याय है।

दीन दयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय के वर्तमान यशस्वी कुलपति प्रो० राधेमोहन मिश्र ने इस शोध-सङ्ग्रह के प्रकाशनार्थ विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की प्रकाशन निधि से अनुदान-राशि प्रदान करने की महती कृपा की, लेखक आपका हृदय से कृतज्ञ है। विश्वविद्यालयस्थ यू० जी० सी० अनुभाग के सहयोगियों को इस कार्य में अनुपद सहयोग प्रदान करने हेतु धन्यवाद प्रदान न करना उनका विस्मरण करना होगा। विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी के प्रतिष्ठित व्यवस्थापक श्री पुरुषोत्तमदास मोदी ने अत्यल्प समय में ही इस लघुग्रन्थ को एक आकर्षकरूप में प्रकाशित कर संस्कृतसुधीजन के समक्ष लाने का स्तुत्य प्रयास किया है। इसके लिये मैं आपका अत्यन्त आभारी हूँ।

सहृदय-संस्कृत-सुधीवर्ग को 'रसाभिव्यक्ति' से संस्कृत काव्यशास्त्रविषयक किमप्यामोद संप्राप्ति में ही-लेखक के श्रम की सार्थकता और पूर्वाचार्यों के श्लाघ्य प्रयत्नों की सफलता है। समग्र को मैं इसी रूप में कहना चाहूँगा—

वक्रोक्त्यलङ्कृतिगुणाहितचित्रकाव्ये-
ष्वाहोस्विदन्यरमणीयकलासु शश्वत्।
शक्त्या मुलसति लक्षणव्यञ्जनाभ्यां
स्थायी शिवः सहृदयेषु रसैकमूर्तिः॥

गोरखपुर
अक्षयतृतीया, श्री सं० २०५८

विदुषामाश्रवः
दशरथ द्विवेदी

सङ्केत-सूची

अ० पु०	-	अग्निपुराण
अ० भा०	-	अभिनवगुप्तकृत, अभिनवभारती
अ० स०	-	रुय्यक, अलङ्कारसर्वस्व
अ० र० सि०	-	लेखक का अपना ग्रन्थ, अभिनवरससिद्धान्त
ऋ०	-	ऋग्वेद
ए० इ० अ०	-	नोली, एस्थेटिक इक्सपीरियन्स एकार्डिङ्ग टू अभिनवगुप्त
का, काव्या०	-	भामह, काव्यालङ्कार; रुद्रट, काव्यालङ्कार; दण्डीकाव्यादर्श
का० प्र०	-	मम्मट, काव्यप्रकाश
का० मी०	-	राजशेखर, काव्यमीमांसा
का० सू० वृ०	-	वामन, काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति
का० सा० सं०	-	उद्भट, काव्यालङ्कार सारसङ्ग्रह
ध्व० ध्वन्या०	-	आनन्दवर्द्धन, ध्वन्यालोक
ना० शा०	-	भरत, नाट्शास्त्र
ना० द०	-	रामचन्द्र-गुणचन्द्र, नाट्यदर्पण
प्र० रु० य०	-	विद्यानाथ, प्रतापरुद्र यशोभूषण
पो० ब्यू० वे०	-	डॉ० एम० के० वर्मा, पोयटिक ब्यूटी ऑफ दि ऋग्वेद
म० म०	-	डॉ० गङ्गाधरशास्त्री, मतिमन्थन
मा० मि०	-	मालविकाग्निमित्रम्
र० गं०	-	पंडितराज जगन्नाथ, रसगङ्गाधर
रा० मा०	-	रामायण
ल० वृ०	-	प्रतीहारेन्दुराज, लघुवृत्ति
व० जी०	-	कुन्तक, वक्रोक्तिजीवितम्
स० क०	-	भोजराज, सरस्वतीकण्ठाभरण
स्व० क० शा०	-	डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय, स्वतन्त्र कलाशास्त्र
सं० का० ई०	-	संस्कृतकाव्यशास्त्र का इतिहास
सं० पो०	-	कृष्ण चैतन्य, संस्कृत पोयटिक्स
सा० द०	-	विश्वनाथ, साहित्यदर्पण
स० बं०	-	अलङ्कारसर्वस्व पर, समुद्रबन्ध
शृं० प्र०	-	भोजराज, शृंङ्गार प्रकाश
स्टा० रि० वे०	-	जे० ख़ोदा, स्टाइलिस्टिक रिपीटिशन इन दि ऋग्वेद
सु० कु० दे०	-	डॉ० सुशील कुमार दे
रा० चं० द्वि०	-	प्रो० रामचन्द्र द्विवेदी

विषय-सूची

	पृष्ठ
भूमिका	३-७
१. रीति गुण	१
२. वक्रोक्ति सिद्धान्त	२८
३. आचार्य अभिनवगुप्त निरूपित रस प्रक्रिया	५७
४. परिशिष्ट-१ भारतीय रस विचार—रान्येरो नोली	८६
५. परिशिष्ट-२ नाट्यशास्त्र अभिनव भारती-रस-विचार	९५

रीति-गुण

सुविहित सन्मार्ग, सत्पथ से चलने वाली लोकयात्रा मङ्गलमयी होती है। इसमें सभी को अपना सभी कुछ उपलब्ध हो जाता है। सत्पथपथिक विहित कर्मों से प्रच्युत नहीं होता, उसके स्वरूप में निखार आता है, अन्तर्मन प्रकाश-आनन्द से भरा होता है, उसके प्रतिप्रचार में माधुर्य झलकता है, प्रज्ञा-प्रसार से समुज्ज्वल तथा भङ्गीभणितिमण्डित ऐसा सहृदयजन सभी के लिये आनन्द का कारण होता है। स्वभाव-भेद से मार्ग में, पद्धति में भेद और आनन्त्य तो हो सकता है पर[1], उसके परिणाम में प्राय: एकरूपता अवश्य टपकती है। प्रतिभा-प्रसार का अन्त नहीं है। इसलिये समाज की दिशा भी अनन्त हो सकती है। इस आनन्त्य में अभीष्ट मूल्यों की, मर्यादाओं की, मङ्गल की रक्षा नहीं हो सकती। परिणामत: सत्पथ, सन्मार्ग के कुछ मान्य मानक तय किये जाते हैं। लोकयात्रा उन्हीं में आबद्ध और फलवती होती है। काव्ययात्रा के सन्दर्भ में भी संस्कृत काव्यशास्त्र में यही दृष्टि पायी जाती है।

भावभूमि और अभिव्यक्ति की सामर्थ्य में ही रसाभिव्यक्ति अपनी पूर्णता का वरण करती है। संस्कृत काव्यशास्त्र के आचार्यों ने रसाभिव्यक्ति के अनेक तत्त्वों का प्रख्यापन किया है जिसमें रस, गुण, अलङ्कार, रीति, ध्वनि वक्रोक्ति आदि की प्रमुखतया चर्चा की जाती है। सभी का उपेय एक ही है चतुर्वर्गनिष्पादनपूर्वक[2] कीर्ति-प्रीति का संविधान, परन्तु उपाय भिन्न हैं। इन उपायों में रीति, मार्ग या पन्था की अपनी विशेषता है। वही रचना में गुण स्वरूप में, अलङ्कार रूप में, रस भूमिका में सर्वत्र अनुस्यूत है। अत: हम यहाँ रीति-गुण-अलङ्कार की चर्चा करेंगे।

काव्य का जो तत्त्व उपस्कार्य और आत्मस्थानीय[3] था, गुण ही जिसमें प्रधान थे, गुण ही जब प्रातिभ कवि की रचना में रससमर्पण का केन्द्रबिन्दु हो, तब वही रीति काव्यमार्ग के क्षेत्र में आत्मप्रतिष्ठित होकर भी क्यों उपेक्षित हो गयी? विचारणीय है। ध्वनिवाद के अभ्युदय ने रीति को पददलित किया। ध्वनिकार ने अस्फुटस्फुरित, काव्यतत्त्व ध्वनि[4] के असमर्थ व्याख्याकारों का सम्बल रीति है, कहकर रीति की उपेक्षा की किन्तु, उसे अङ्गसंस्थाविशेष स्वीकार किया। प्रतीयमान अर्थ को ललनालावण्यप्रख्य[5] बताया। आचार्य अभिनव गुप्त ने—'लावण्यं संस्थानमुग्धिमा' कहकर लावण्य की व्याख्या की। 'रीतयोऽवयवसंस्थाविशेषवत्' को अङ्गीकार करके भी परवर्ती आचार्यों ने रीति की उपेक्षा क्यों की? रीति की उपेक्षा में गुणों का तिरस्कार नहीं है क्या? रीति देशविशेष से जुड़ी है? या कवि स्वभाव से? इन सभी का विवेचन यहाँ विचार्य है और इस विवेचन में अलङ्कारों की भूमिका कहाँ है? रसाभिव्यक्ति में इन सबका विनियोग कहाँ है? यह भी इस निबन्ध का विवेच्य विषय है।

आइये, प्रथमतः हम रीति का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ करें। रीति शब्द दो धातुओं से करण तथा अधिकरणार्थ में क्तिन् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है। एक है दिवादि की 'रीङ्' प्रस्रवणे धातु-से रीयते क्षरत्यनया, अस्यां वा वाङ्मधुधारेति रीतिः। अथवा रिणन्ति गच्छन्त्यनया कवयः अस्यां गुणाः बेति रीतिः।[६] जिससे या जिसमें वाणी मधु की वर्षा करती है या जिस माध्यम से कविगण प्रस्थान करते हैं, वा जिसमें गुण सन्निहित होते हैं उसे रीति कहा जाता है। इस प्रकार अमरकोष की यह उक्ति भी सार्थक होती है—प्रचारस्यन्दयोः रीतिः।[७]

रीति में ही गुणक्षरित होते हैं, प्रस्रवित होते हैं। इसलिये गुणप्रस्रवणात्मिका रीति रस का निधानभूत काव्यात्मा है। वामन ने रीति को इसी रूप में काव्यात्मा का स्थान दिया है। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि वामन की दृष्टि में काव्यशोभा गुणों से ही हो सकती है। अलङ्कार गुणों में अतिशय का आधान करते[८] हैं। सौन्दर्य ही अलङ्कार है[९]। सौन्दर्यपिपासु, सौन्दर्यद्रष्टा, सौन्दर्याग्रही कवि की रचनाओं में इसीलिये रीति-गुण-अलङ्कार का मञ्जुल विनिवेश पाया जाता है। यह त्रयी रसप्रस्रवण है। एतदर्थ ही सत्कवि का प्रयास होता है। इसलिये हम यहाँ रीति-गुण के इतिहास, स्वरूप और रसाभिव्यक्ति में उसके स्थान का संक्षेप में निभालन करेंगे।

रीति और गुण परस्पर एक दूसरे के पूरक है। भले ही रीति को काव्य की आत्मा मानें न मानें, उसे वर्णसंघटना का धर्म मानें या अङ्गसंस्थानवत्। गुणों को भी काव्यशोभाकार धर्म कहें या रसादि-धर्म या अन्तरङ्ग और रसादि के नित्य धर्म। पर, दोनों एक दूसरे के पूरक हैं ही। इसलिये दोनों का सहविवेचन ही ठीक रहेगा। आचार्य भरत ने नाट्य के सन्दर्भ में कैशिक्यादिवृत्तियों और लोकव्यापारात्मिका प्रवृत्तियों की चर्चा की है। वृत्तयो काव्यमातरः तथा रसव्यापारात्मिका उनकी संज्ञा है। नाट्यशास्त्र के षोडश अध्याय में काव्य-चिन्तन भी भरतमुनि ने किया है। वहाँ पर आपने काव्य के गुण-दोष-अलङ्कार-लक्षण आदि लिखे हैं। काव्य के अतिशय में आपने अन्य तत्त्वों के अतिरिक्त गुण कीर्तन को भी स्थान दिया है—

विभूषणं चाक्षरसंहतिं च शोभाभिमानौ गुणकीर्तनं च।
प्रोत्साहनोदाहरणे निरुक्तं गुणानुवादोऽतिशयश्च हेतुः॥[१०]

प्रतिभावान् कवि में रसाभिव्यञ्जन की क्षमता होती है और गुण, प्रतिभावान् कवि का प्रथम परिस्पन्द है, उसी के व्यापार से काव्य में गुण उपनत होते हैं। शब्दों में स्वतः रसाभिव्यक्ति के योग्य प्रतिपादकता संव्याप्त होती है। इसलिये श्रोत्रार्पित शब्द रसापादकता का स्वतः संविधान करते हैं, यह संविधान ही शब्द या अर्थरूप में गुण-पद वाच्य होता है।[११] आचार्य भरत ने इसीलिये सर्वप्रथम शब्द और अर्थ के दश गुणों का व्याख्यान प्रस्तुत किया है वे, हैं—

श्लेषः प्रसादः समतासमाधिः माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम्।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यस्य गुणा दशैते॥

(ना०शा०, १६/९६)

श्लेष प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सौकुमार्य, अर्थव्यक्ति, उदारता और कान्ति काव्य के ये दश गुण हैं। इन गुणों का लक्षणार्थ भरत के अनुसार यों है। ईप्सित अर्थजात से परस्पर संबद्ध पदों के श्लेष को श्लेष गुण कहा जाता है। स्वभावत: स्फुट भी विचारगहन तथा सुप्रतिबद्ध पदों का विन्यास भी श्लेष है। शब्द या अर्थ की बिना व्याख्या किये जहाँ उनका स्वरूप प्रकट हो जाता है वहाँ प्रसाद गुण रहता है। इसका जन्म सरल शब्दार्थ के योग में होता है। जिन कथनों में अधिकचूर्ण (अल्प समास) पद न हों न ही व्यर्थामिधायक पद हों, दुर्बोध भी न हों, समत्व योग से वहाँ समता गुण का सौन्दर्य रहता है। समता वहाँ भी होता है जहाँ अलङ्कार और गुण एक दूसरे के अनुरूप तथा एक दूसरे के विभूषण के रूप में प्रस्तुत हों। समाधि वह गुण है जिसमें अभिगमनीय–विशेष–मण्डित अर्थावभास हो। सादृश्य में दृष्ट या प्राप्त अर्थों का सयत्न संक्षेप भी समाधि गुण है। बारम्बार श्रुत या संभुक्त भी वाक्य बारम्बार प्रयुक्त होने पर भी उद्वेगजनक न बने तो माधुर्य गुण जानना चाहिए। भूरिसमास, विचित्र तथा सानुस्वार पदकदम्ब में ओज की संरचना होती है। ओज की स्थिति वहाँ भी होती है जहाँ शब्दार्थसंपत्ति अवगीत तथा हीन होने पर भी उदात्त भाव की प्रतिभासक होती है। लोकक्रिया में व्यवस्थित जो व्यापार काव्य में सुप्रसिद्ध अभिधानों से व्यक्त किया जाता है उसे अर्थव्यक्ति गुण कहते हैं। सुखप्रयोज्य, सुश्लिष्ट सन्धिसमन्वित शब्द तथा सुकुमारार्थगुम्फित रचना सौकुमार्य गुणोपपन्न होती है। मानसी परिकल्पनापूर्वक जिस वस्तु की अर्थवत्ता का गुम्फन हो अर्थ व्यक्ति वहाँ भी पाई जाती है। दिव्यभावोपपन्न, शृङ्गार तथा अद्भुत प्रयुक्त, नानाभाव से संप्लुत कथन उदारता गुण में पाया जाता है। अनेकार्थ विशिष्ट, सौष्ठवाहित, विचित्रार्थसम्पन्न सूक्त वाक्य उदात्त कहा जाता है। चन्द्रमा के समान मनोह्लादविधायी, श्रुति सुखद, लीलाञ्चित काव्यक्रिया कान्ति गुण समुज्ज्वल होती है। मन तथा श्रुति दोनों का प्रसादापादक शब्दप्रयोग कान्त कहा जाता है।[१२] इस प्रकार आचार्य भरतप्रोक्त शब्दार्थ के दश गुण उनके परवर्ती दण्डी वामन आदि के लिये सुगम पन्थ का निमार्ण करते हैं।

भरतोक्त गुणों की व्याख्या, समालोचना तथा सङ्गति–विसङ्गति का विवेचन अभिनवगुप्त की अभिनव भारती, हेमचन्द्र के काव्यानुशासन विवेक और डॉ० राघवन् के प्रबन्ध में सविस्तार कीर्तित है।[१३] भरतमुनि मुख्यत: नाट्य की विवेचना करते हैं। अत: नाट्य के विविध पक्षों के प्रसङ्ग में वह गुणों की व्याख्या करते हैं, जो तत्तद् विषयों के उपकारक हैं, किन्तु जिन दश गुणों का आपने विवेचन किया है, ग्रहण–त्याग रीति से पं० राज जगन्नाथ और तदुत्तरवर्ती आचार्यों से सभादृत हुए। भरत ने एक तथ्य और स्पष्ट किया कि दोषविपर्यय ही गुण[१४] हैं। डॉ० नगेन्द्र के अनुसार भामह तथा दण्डी गुणों के लक्षण पर मौन हैं। भरत बोलते हैं, पर गुणों का स्वरूप लक्षण न करके तटस्थ लक्षण ही करते[१५] हैं। उनका विचार है कि आपने दोष का भावात्मक लक्षण दिया पर गुण को तो अभावात्मक माना। वामन ने, 'काव्य शोभाया: कर्तारो

धर्माः गुणाः' कहकर गुण का भावात्मक लक्षण तो किया अवश्य किन्तु वह भी तटस्थ लक्षण ही होकर रह गया[१६] है।

भामह ने शब्द और अर्थ के सहभाव को काव्य की संज्ञा प्रदान की। गुणों के विषय में उनके विचार सुस्पष्ट नहीं है। वह केवल तीन कारिकायें प्रस्तुत करते हैं—

माधुर्यमभिवाञ्छन्तः प्रसादं च सुमेधसः।
समासवन्ति भूयांसि न पदानि प्रयुञ्जते॥
केचिदोजोऽभिधित्सन्तः समस्यन्ति बहून्यपि।
यथा मन्दारकुसुमरेणुपिञ्जरितालका॥
श्रव्यं नातिसमस्तार्थं काव्यं मधुरमिष्यते।
अविद्वदङ्गनाबालप्रतीतार्थंप्रसादवत्॥[१७]

यहाँ गुण का कोई सामान्य लक्षण नहीं है। विद्वान् लोग माधुर्य को चाहते हुए प्रसाद को भी मानते हैं। अत्यधिक समासपदावली का वे प्रयोग नहीं करते। कुछ ऐसे भी हैं जो ओज की भी अभिधित्सा रखते हैं। ऐसे लोग भारी समासों का प्रयोग करते हैं। काव्य तो वही मधुर होता है जो श्रव्य हो, अतिसमास बोझिल न हो। प्रसादान्वित रचना ऐसी हो कि अल्पविद्वान् अपढ़ स्त्रियाँ और बालजन भी अर्थावबोध कर सकें। भामह का यह गुण निरूपण संक्षिप्त होने पर भी महत्त्व का है क्योंकि उनके पूर्व भरत तथा पश्चाद्वर्ती दण्डी, वामन दशगुण मानते हैं। गुणों की संख्या का त्रिगुण में परिसीमन उस भारतीयता का प्रख्यापन है जिसमें आसृष्टि त्रिगुणात्मकता अनुस्यूत है। यह इसलिये भी महत्त्वपूर्ण है कि परवर्ती ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन तथा तदनुयायी मम्मटादि के लिये एक द्वार भामह के गुण-निरूपण में मिला था। इस सन्दर्भ में नारायण बनहट्टी[१८] तथा प्रो० राघवन्[१९] की यह कल्पना भी ध्येय है कि वामन तक संस्कृत काव्यशास्त्र में दो संप्रदाय गुण के विषय में प्रचलित थे। एक का अनुपालन भरत-दण्डी-वामन कर रहे थे तो अपर का भामह। भामह ने गुण शब्द का प्रयोग भाविक अलङ्कार की अलङ्कारता के निराकरण-प्रसङ्ग में भी किया है। उन्होंने कहा कि भाविक अलङ्कार न होकर प्रबन्ध विषयक गुण है—

भाविकत्वविमिति प्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम्।[२०]

भूत और भावी भावों की प्रत्यक्षायमाणता को भाविक कहते हैं। डॉ० डे ने भामह के भाविक पर पर्याप्त विचार किया है। आपका निष्कर्ष है कि भाविक अलङ्कारशास्त्र का विषय न होकर सौन्दर्यशास्त्र का विषय है। यहाँ पर भी ध्येय है कि डॉ० डे मानते हैं कि भामह गुणों को उसी प्रकार रीतियों से नहीं जोड़ते जैसा कि दण्डी आदि करते हैं।[२१] प्रसन्न, ऋजु, कोमल भी पुष्टार्थविहीन, वक्रोक्तिशून्य काव्य श्रुतिपेशल तो गीत के समान हो सकता है पर वहाँ बाह्य रञ्जकता मात्र होगी, मार्मिकता नहीं। अलङ्कारपूर्ण, अग्राम्य, अर्थसमर्पक, न्याय्योपपन्न, अनाकुलपदसन्दर्भाहित गौडीय मार्ग भी साधीय है। इसके विपरीत गुणों से मण्डित वैदर्भ भी किसी काम का नहीं—

अलङ्कारवदग्राम्यमर्थ्यं न्याय्यमनाकुलम्।
गौडीयमपि साधीयो वैदर्भमिति चान्यथा ॥ काव्या०, १/३५

भामह के गुण-रीति और अलङ्कार विवेचन से हम उनका तात्पर्य टटोल सकते हैं। वह काव्य में वक्रोक्ति-लोकातिक्रान्त कथन स्वरूप अलङ्कार को प्रधानता देते हैं। अर्थ का विभावन तो वक्रोक्ति[२२] में ही है। विभावन व्यापार अभिनवगुप्त के रसादि व्यंग्य तक जाता है।[२३] भामह की दृष्टि से यह अलङ्कार-प्राण है, सर्वालङ्कारसामान्य है, काव्यशोभा का मूलाधार है। रीति का कोई मूल्य नहीं है। उनके नामकरण में कोई विशेष[२४] नहीं है। गुणों का विद्वज्जन आदर करते हैं, पर भामह की उस पर कोई प्रतिक्रिया नहीं है। गुण-रीति पर भामह की उदासीनता और अलङ्कार के प्रति आग्रही वृत्ति, स्पष्ट करती है कि रुय्यक का कथन उन पर सार्थक है। वह अलङ्कार प्रजापति[२५] है। भरत के अनन्तर चार अलङ्कारों के स्थान पर लगभग चालीस अलङ्कारों का संग्रथन भी रुय्यक के मत का पोषक है।

यद्यपि कीथ प्रभृति विद्वान् दण्डी को भामह के पूर्व सिद्ध करते हैं और दण्डीकृत गुण-रीति निरूपण की भामह द्वारा उपेक्षा और आलोचना की बात प्रस्तुत करते हैं किन्तु, परम्परा में भामह को ही पूर्ववर्ती माना जाता है। अतः दण्डी की दृष्टि से जब हम गुणालङ्कार का विवेचन करते हैं तो हमें एक तथ्य स्पष्ट प्रतिभासित होता है कि दण्डी का अलङ्कार क्षेत्र बहुत व्यापक है। प्रथमतः तो वह काव्य-सौन्दर्य का दो विभाग करते हैं, एक है वक्रोक्तिमूलक दूसरा स्वभावमूलक।[२६] काव्यशोभाकार यावान् तत्त्व हैं सभी अलङ्कार हैं—

काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते। काव्यादर्श, २/१

परिणामस्वरूप रीति-गुण ही नहीं सन्धि, सन्ध्यङ्ग आदि सभी अलङ्कार हैं। अलङ्कारों की दो विधा है—स्वभावोक्तिमूलक और वक्रोक्तिमूलक। इष्टार्थव्यवच्छिन्नपदावली काव्य का स्वरूप है। समग्र काव्यतत्त्व उसके अलङ्कार हैं। यह अवश्य है कि सभी अलङ्कार अर्थ में रस का निषेचन करते हैं—कामं सर्वोऽप्यलंकारो रसमर्थे निषिञ्चति॥ (काव्यादर्श, १/६२)। रस प्रक्रिया के सम्बन्ध में आपका विचार है कि रत्यादि स्थायी भाव परिपुष्ट होकर रस बन जाते हैं। अभिनव भारती में भट्टलोल्लट के सिद्धान्त में दण्डी को उनके मत के समर्थन में खड़ा दिखाया गया है।[२७] इसलिये दण्डी की दृष्टि से काव्य के समग्र तत्त्व अलङ्कार रूप में ही भावों का परिपोष करते हैं। काव्यशरीर अलङ्काराधिष्ठान है। अलङ्काररचना के मार्ग अनेक हो सकते हैं। सभी में सूक्ष्म भेद हो सकते हैं। वैदर्भ और गौडीय दो मार्ग हैं। दोनों का अन्तर स्पष्ट है—

असत्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम्।
तत्र वैदर्भगौडीयौ वर्ण्येते प्रस्फुटान्तरौ ॥ वही, १.४०

वैदर्भ मार्ग के प्राण दश गुण हैं—श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, कान्ति और समाधि।[२८] वैदर्भ मार्ग काव्यशरीर को जीवन्त बनाता है—वैदर्भमार्गः काव्यशरीरं प्राणिति। तदभावे त्वसन्नेव।[२९]

वैदर्भ मार्ग के विपरीत है गौडीय मार्ग। उपर्युक्त गुणों के स्वरूप में दण्डी कहते हैं कि शैथिल्यस्पर्शशून्य, अल्पप्राणाक्षरोत्तर विनिबन्धन में श्लेष गुण होता है। प्रसिद्धार्थ कथन प्रसाद गुण है। गौडमार्ग में शैथिल्य और अप्रसिद्धार्थ कथन ग्राह्य है। आदि मध्य तथा अन्त में प्रत्येक दशा में जहाँ रचना के पदों में अविषमता प्राप्त हो वहाँ समता नामक गुण होता है। वाणी और अर्थ में जहाँ माधुर्यकृत रसस्थिति हो वह रसवत् रचना माधुर्य गुण गुम्फित होती है—

मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः।
येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः ॥ वही १.५१

गौडजन इसे समादर नहीं देते हैं। कोमलाक्षरप्राय रचना को सुकुमारगुणाहित माना जाता है किन्तु सभी अक्षरों की कोमलता यहाँ ग्राह्य नहीं है, अन्यथा बन्धशैथिल्य दोष आपतित होगा। अभिधेयार्थ की शब्द या अर्थ से सहज प्रतीति होने में अर्थव्यक्ति गुण होता है। जिस उक्ति में कोई अपूर्व उत्कर्षयुक्त गुणस्वरूप अर्थ-प्रतीति हो उसमें उदारत्व गुण होता है। इससे समग्र काव्यपद्धति सनाथ मानी जाती है। औदार्य गुण वहाँ भी होता है जहाँ श्लाघ्य उपाधियों की विशेषता दिखाई जाय।

समासभूयस्त्व में ओज गुण होता है—

ओजः समासभूयस्त्वमेतद् गद्यस्य जीवितम्।

गद्य रचना का प्राण ओजोगुण है। ओजोगुण की रचना में पदों में उच्चावचभाव, गुरु-लघु-अल्पाक्षर पदपद्धति पाई जाती है। लोकविदित अर्थों की अनतिक्रमणीयता में कान्ति गुण होता है जो सर्वजगत्कान्त है। इसका सौन्दर्य वार्ता-प्रकथन और वस्तुवर्णना दोनों में प्राप्य है। लोकप्रसिद्ध सीमा की अपेक्षा से जहाँ अन्य का धर्म अन्यत्र आरोपित किया जाता है, वहाँ समाधि नामक गुण पाया जाता है। यह गौणीवृत्ति तथा भाक्त-शब्द व्यापार का विषय है।[३०] गुणों का विवेचन परिसमाप्त करते हुए दण्डी कहते हैं—दोनों मार्ग परस्पर एक दूसरे से भिन्न हैं। इनके भेदों का परिगणन असंभव है क्योंकि कवि स्वभाव की कोई इयत्ता नहीं है।

भामहप्रोक्त प्रबन्ध गुण का दण्डी सुस्पष्ट विवेचन करते हैं। काव्य में आसिद्धि कवि का भाव ही प्रतिबिम्बित होता है। संसार में जितने भी वर्ण्यविषय हैं सभी का परस्परोपकारकत्वभाव, व्यर्थ विशेषणों का परिहाण, गम्भीर-अगम्भीर सभी पदार्थों की व्यक्ति-उक्ति सब कुछ भावायत्त है। इसका नाम ही है भाविक—

भावायत्तमिदं सर्वमिति तद्भाविकं विदुः। वही, २.२६३

दण्डी के विवेचनों, उदाहरणों से स्पष्ट है कि वह भरत की काव्यपद्धति में हैं। भरतमुनि रूपकों के विभिन्न पक्षों में गुणालङ्कारों की चर्चा करते हैं, काव्य गुणों और लक्षणों का निरूपण करते हैं। दण्डी पर्याप्त मात्रा में उनके अनुयायी हैं।

आचार्य दण्डी के अलङ्कारसामान्य की सीमा को देखते हुए उद्भटादि के गुणालङ्कार-भेद के सन्दर्भ में आचार्य मम्मट का यह कथन—

उद्भटादिभिस्तु गुणालङ्काराणां प्रायशः साम्यमेव सूचितम्।[३१]

उचित है। उद्भट के विचार प्रस्तुत–प्रकरण में जानने के लिये राघवन् का प्रबन्ध देखना चाहिये।

यह निबन्ध प्राधान्येन रीति–गुण का विवेचन करने में निरत है। रीति–गुण के आचार्य वामन ही हैं। अतः उनकी दृष्टि में हमें इन्हें निभालित करना है। गुणसंस्कृत, समुज्जवल वेश–भूषा मण्डित भद्र काव्यपुरुष सत्पथ प्रवृत्त होकर ही आप्तकाम हो सकता है। उसकी सद्रीति ही उसे प्राणवन्त करती है। प्राणवन्त ही सानन्दी हो सकता है। वामन के काव्यनय की सोच यही है। इस सोच के मूल में सौन्दर्य भावना की दिदृक्षा बाह्य–से आभ्यन्तर तक गूँजती है। इसीलिये आप सौन्दर्य से ही अपनी यात्रा प्रारम्भ करते हैं। आपका मानना है कि, काव्य ग्राह्य ही होता है—अलङ्कार से। सौन्दर्य ही अलङ्कार है। यह सौन्दर्यात्मक अलङ्कार दोष–हान और गुणादान से आता है। शास्त्र से ही गुण–दोष तथा हानादान का ज्ञान हो सकता है। कीर्ति–प्रीति ही काव्य का लक्ष्य है। गुणालङ्कारसंस्कृत शब्दार्थ ही काव्य है। उसकी आत्मा रीति है। पदों की विशेष रचना रीति है। विशेषता गुण से आती है। रीतियाँ तीन हैं—वैदर्भी, गौडीया और पाञ्चाली। इनका प्रचलन विदर्भादि के कवियों में दृष्ट होता है, अतः उपचारतया देश विशेष के नाम पर इनके अभिधान रखे गये हैं, वस्तुतः देशों से काव्य का कोई उपकार नहीं होता। वैदर्भी रीति वह है जिसमें सभी गुण पाये जाते हैं। वैदर्भी मार्ग में दोष का स्पर्श नहीं रहता, समग्रगुणों का इसमें गुम्फन पाया जाता है, इसका नाद सौन्दर्य वीणा–सममधुर होता है। इसके बिना वाणी मधु का स्राव नहीं करती। कामधेनुकार वामन के वाङ्मधु की व्याख्या में कहते हैं—वाङ्मधुशब्देन मुख्यार्थासंभवात् सहृदयहृदयैरास्वाद्यः समग्रसौन्दूर्यसमुन्मिषितो रसो लक्ष्यते। (कामधेनु, पृ० १८)

ओजो गुण तथा कान्ति गुणों के समन्वय में गौडीया रीति होती है। माधुर्य–सौकुमार्याभाव के कारण इसकी पद रचना समासबहुल तथा अत्युल्बण होती है। पाञ्चाली माधुर्य तथा सौकुमार्य गुणोपपन्न होती है। इसमें पदों में अनुल्बणता और विच्छायत्व पाया जाता है। यह मधुर और सुकुमार होती है। इन्हीं तीनों रीतियों में समग्र सुन्दर (चित्र) काव्य प्रतिष्ठित है, जैसे रेखाओं में चित्र प्रतिष्ठित होता है—

एतासु तिसृषु रीतिषु रेखास्विव चित्रं काव्यं प्रतिष्ठितम्। (वही, पृ० २१)

काव्य में कौन रीति ग्राह्य है? वामन के विचार यहाँ दर्शनीय हैं। रीतियों में वैदर्भी ही ग्राह्य है क्योंकि उसमें सभी गुण पाये जाते हैं। कम गुण होने से इतर दो अग्राह्य हैं। हाँ ये दोनों वैदर्भी मार्ग की प्राप्ति के लिये अभ्यसनीय अवश्य हैं। तत्त्वशील ही ऐसा कर सकता है। समासाभाव में शुद्ध वैदर्भी होती है। वैदर्भी में अर्थ गुण सम्पत्ति आस्वाद्य होती है।[३२] वैदर्भी का सहारा लेने पर अर्थलेश भी आस्वाद्य होता है। आपका कथन है—

वचसि यमधिगम्य स्यन्दते वाचकश्रीर्वितथमवितथं यत्र वस्तु प्रयाति।
उदयति हि स तादृक् क्वापि वैदर्भरीतौ सहृदहृदयानां रञ्जकः कोऽपि पाकः॥

वही, पृ० २५

वैदर्भी रीति के समन्वय में वाच्य-वाचक दोनों ही अनिर्वचनीय का प्रस्रवण करते हैं। अवितथ वस्तु भी उपरञ्जक सामग्री के कारण वितथ लगती है। पाकविद्या के लिये राजशेखर की काव्य-मीमांसा देखनी चाहिए जहाँ उन्होंने, पिचुमनद पाक, वदर पाक, मृद्वीका पाक, वार्ताक पाक, तिन्तिडी पाक, सहकार पाक, क्रमुक पाक, त्रपुस पाक और नारिकेर पाक नव प्रकार के पाकों की व्याख्या[३३] की है। वामन का वैदर्भमार्ग ध्वनिमार्ग से भिन्न नहीं है, मात्र दृष्टिभेद है। आचार्यों में शक्तिभेद से भेददृष्टि है।

लोक-शास्त्र की व्युत्पत्ति तथा दोषों का परिज्ञान होने पर ही काव्य में गुणाधान संभव है। इसीलिये वामन विद्या-कला के स्थानों और दोषों के विवेचन के अनन्तर गुणों की व्याख्या करते हैं। जैसा कि पूर्व में कहा गया है, वामन की दृष्टि पर्याप्त विमल है। वह गुणों की सत्ता काव्य में अनिवार्य मानते[३४] हैं। गुणों से ही काव्य में शोभा आती है। अलङ्कार उस शोभा को और अधिक बढ़ा देते हैं। ओजः प्रभृति गुणमात्र के विनियोग में शोभाकारिता पैदा हो सकती है किन्तु मात्र यमकोपमादि अलङ्कारों से नहीं। शुद्धगुण युवती के रूप के समान सदलङ्कार गुम्फित काव्य स्वदनीय होता है। यौवनशून्य युवती के समान यदि काव्य-शब्दार्थ-गुणों से हीन हो तो प्रियजनों के लिये यथोक्त रमणी के समान अलङ्कार शोभा के बजाय दुर्भग हो जायेंगे—

युवतेरिव रूपमङ्ग काव्यं स्वदते काव्यगुणं तदप्यतीव।
विहितप्रणयं निरन्तराभिः सदलङ्कारविकल्पकल्पनाभिः॥
यदि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्यो वपुरिव यौवनबन्ध्यमङ्गनायाः।
अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं नियतमलंकरणानि संश्रयन्ते॥

(वही, ३/१/२ की वृत्ति)

इस प्रकार काव्य में गुणों की स्थिति नित्य है, अलङ्कारों की अनित्य। रचना में दण्डी-भरतप्रोक्त, दश-दश गुण, वामन, शब्द और अर्थ दोनों में, मानते हैं और प्रत्येक की सोदाहरण व्याख्या करते हैं। यहाँ कामधेनुकार एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न और समाधान प्रस्तुत करते हैं। आपका कथन है कि, "ध्वनिवादी व्यंग्य की प्रधानता में ध्वनि नाम का उत्तम काव्य मानता है। व्यंग्य की अप्रधानता में गुणीभूतव्यंग्य नामक मध्यम तथा संभावनामात्र में चित्र नामक अवर काव्य मानता है। यहाँ रीतिवाद में भी गुण के साकल्य में वैदर्भी, अन्य गुणों के अविरोधपूर्वक ओज-कान्ति गुण में गौडीया. माधुर्य तथा सौकुमार्य के प्राचुर्य में पाञ्चाली रीति का होना काव्य के त्रिविध भेद ही हैं। इस दृष्टि से दोनों पक्ष में समानता है। रीति तथा ध्वनिवाद में अन्तर मात्र यह है कि ध्वनि काव्य की आत्मा है, वही व्यवहार का प्रयोजक है पर, गुणों की आत्मनिष्ठता उभयत्र समान है। शब्दार्थयुगल ही काव्यशरीर है, अलङ्कार शरीरनिष्ठ हैं, यह तथ्य भी दोनों मतों में समान

है। इस पर भी जो काव्यप्रकाशकार आदि रीति का यह कहकर खण्डन करते हैं कि क्या समस्त गुण होने पर ही काव्यत्व होगा या कतिपय से ही ? और यदि समस्तगुणों के रहने पर ही काव्य, काव्य कहा जायेगा तो असमस्तगुण वैदर्भी और पाञ्चाली कैसे काव्यात्मा बनेगी? जबकि वामन महोदय रीति को काव्यात्मा मान रहे हैं।" 'अद्रावत्र प्रज्ज्वलत्यग्निरुच्चैः' इत्यादि में ओज आदि गुणों के सन्निधान हैं और यहाँ काव्यत्व भी है? 'स्वर्गप्राप्तिरनेनैव देहेन वरवर्णिनि' तथा 'अस्या रदच्छदरसो न्यक्करोतितरां सुधाम्' में गुण के बिना ही विशेषोक्ति तथा व्यतिरेकालङ्कार होने के कारण काव्यत्व है। इस प्रकार वामन का गुण, अलंकार और आत्मविषयक मन्थन अग्राह्य है।[३५]

काव्य प्रकाशकार के उपर्युक्त तर्कों के उत्तर में टीकाकार कामधेनु में कहते हैं कि पाण्डितकण्डूग्रस्त लोगों को पहले अपने को ही देख लेना चाहिए, 'तददोषौ शब्दार्थौ' आदि जो आप काव्यलक्षण कर रहे हैं उसमें काव्य के सामान्यलक्षण शब्दार्थ में गुण का साहित्य तो जोड़ रहे हैं। तो फिर काव्यत्व गुणसमष्टिविशिष्ट में होगा या गुणव्यष्टि विशेष में ? प्रथम पक्ष निरवद्य नहीं है क्योंकि एकैक गुणों के उदाहरण में काव्यत्व लागू नहीं होगा। इसी प्रकार दूसरा पक्ष भी असङ्गत है क्योंकि काव्य में गुण-समष्टि वैशिष्ट्य का अभाव है। एक तथ्य और है—वस्तु तथा अलङ्कार-ध्वनियों में गुणाधिष्ठान रसाभाव होने से गुणाभाव पैदा हो जायेगा। एक प्रश्न यह भी है कि क्या सभी रस एकसाथ मिलकर काव्यात्मा बनते हैं या कोई एक ? प्रथम पक्ष में कहीं भी काव्यात्मा की संभावना नहीं बनेगी। विरोधी रस एक अधिकरण में रह नहीं सकते। वस्तु-अलंकार-ध्वनियों में रस रहेगा ही नहीं। इस प्रकार आप ध्वनिवादी के पक्ष में भी रसाभाव में आत्माभाव बनेगा, फलतः काव्याभाव प्रस्तुत हो जायगा।[३६] इसलिये वामन के पक्ष में कोई विसङ्गति नहीं है। वस्तुतः कामधेनुकार का तर्क तो मान्य है। सौन्दर्य के अभिधेयत्वानभिधेयत्व की चर्चा ध्वनिवाद का पक्ष है। ध्वनि को उसी दृष्टि से देखना चाहिए। हाँ, वामन का रीतिवाद भी ध्वनि का स्पर्श करता है। उनका वैदर्भमार्ग ध्वनि की ओर ही जाता है। विवाद केवल तत्त्व की अभिव्यक्ति के माध्यम और लक्षणकरण में है। स्वयं ध्वनिकार कहते हैं—**काव्यलक्षणविधायिभिः...ध्वनिमार्गो मनाक् स्पृष्टोऽपि न लक्षितः।** (ध्व०, पृ० ३१-३२)

वामन की गुणव्याख्या पर्याप्त विशद है। शब्द और अर्थ दोनों के गुणों का आप पृथक् लक्षण करते हैं। संयुक्ताक्षराहित निरन्तर रेफादिवर्ग प्रथमादि वर्णों से संयुक्त रचना की गाढ गहनता ओज गुण है। ओजगुण से विपरीत बन्ध की शिथिलता में प्रसाद गुण होता है। इसमें ओज का मिश्रण पाया जाता है इसलिये शिथिलता दोषावह न होकर गुणावह हो जाती है। जिस कथन में अनेक पद एकवत् प्रतीत हों, ऐसी मसृणता ही श्लेषगुण है। जिस मार्ग में पदरचना प्रारम्भ हुई उसका परिसमाप्ति पर्यन्त अनुपालनरूप मार्गाभेद समता शब्द गुण है। पदों का आरोहावरोहक्रम होना समाधि है। आरोहारम्भ, अवरोह में समाप्ति या अवरोह से आरोह में परिसमाप्ति ठीक नहीं है।

क्रम बना रहना चाहिये। ओज-प्रसाद के मिश्रण में आरोहावरोहक्रम हो सकता है? वामन का उत्तर है कि यह मान कर समाधिगुण का तिरस्कार इसलिये नहीं कर सकते क्योंकि ओज और प्रसाद का नदीप्रवाहवत् सम्मिश्रण ग्राह्य है। ऐसा भी नहीं है कि ओज में मात्र आरोह और प्रसाद में अवरोह पाया जाता है। आरोहावरोहक्रम के लिये ही समाधि का वरण किया जाता है। इसका प्रयोजन ही है क्रम-विधान। समासदैर्ध्यशून्य पृथक्पदता माधुर्य गुण है। बन्ध की अपरुषता सौकुमार्य गुण कही जाती है। जिस रचना में पद नर्तन-सा कर रहे हों ऐसी विकटता ही उदारता नामक गुण है। अर्थव्यक्ति हेतुताहित पदों में अर्थव्यक्ति गुण पाया जाता है। बन्ध की उज्ज्वलता कान्ति गुण है। इसके अभाव में काव्य पुरातन की छाया मात्र प्रतीत होता है।[३७]

आचार्य वामन उपर्युक्त रीति से शब्द के दश गुणों का लक्षण करने के अनन्तर कारिकाओं में उनकी सम्प्रेषणीयता का निरूपण करते हैं। वे संक्षेप में इस प्रकार हैं। ओजो गुण रचना में पद श्रोत्र रसायन लगते हैं। प्रसाद के बिना काव्यपद्धति का सम्यक् स्वाद नहीं मिलता। सन्धि तक जिनमें अलक्ष्य हो ऐसा श्लेष रचना का परम गुण है। प्रतिपाद प्रतिश्लोक एक ही मार्ग का अवलम्बन वह भी दुर्बन्ध और दुर्ज्ञेय हो तो समता की श्रीसम्पत्ति झलकती है। जैसे यति गुण आरोह-अवरोह करते हैं वैसे ही पद रचना से सरस्वती पवित्र हो जाय तो समाधिश्री बनती है। धारामधुच्युत, पृथक्पदत्वाहित रचना माधुर्य का स्वरूप है। जैसे चतुर चित्रकार कौशलविजृम्भित चित्ररेखा की रचना करता है वही कार्य गुणों का है। सौकुमार्यगुणशून्य रचना रुक्ष तथा अश्रवणीय हो जाती है। रचना की वह विकटता, जिससे शून्यपदक्रम, वैचित्र्यशून्य प्रतीत होते हैं, उसे उदारता गुण कहते हैं। जहाँ ऐसा लगे मानो अर्थ पहले ही अनुधावन कर रहा है और वाणी पीछे है वहाँ अर्थव्यक्ति की शोभा मिलती है। जिसके बिना कविवाक् पुराणचित्रवत् तथा बन्ध्या प्रतीत होती है वह शब्द का कान्ति नामक गुण है।[३८]

वामन के अर्थगुणों में भी रसाप्लुत अर्थवत्ता है। अभिधेय अर्थ की प्रौढि में ओज गुण होता है। इसकी विशेषता को आपने सोदाहरण व्यक्त किया है। आचार्य का कथन है कि जहाँ एक पदार्थ में ही वाक्य भरा हो, वाक्यार्थ में पद का अभिधान हो, अर्थ में व्यास या समास बने और अर्थ में अभिप्राय गर्भित हो, ऐसी परिस्थितियों में अर्थ की प्रौढि द्रष्टव्य है। अर्थ की विमलता प्रसाद गुण है। क्रमकौटिल्यानुल्बणत्व और उपपत्तिरूप अर्थघटना श्लेष गुण का लक्षण है। अनेक क्रियाओं की विन्यास रीति को क्रम, वैचित्र्य को कौटिल्य, वर्णन प्राशस्त्य को अनुल्बण तथा युक्ति-विन्यास को यहाँ उपपत्ति कहा गया है। सामान्यत: प्रक्रम की अभेदरूप समता या अविषमता ही समता गुण है। सुगमनीयता भी समता हो सकती है। अवहितचित्तानुगत अर्थदर्शन समाधि गुण है। अर्थदर्शन दो प्रकार का होता है—अयोनि तथा अन्यच्छाया योनि। अयोनि का अर्थ अकारण, अन्यच्छाया योनि का अर्थ सुस्पष्ट है। अर्थ भी दो प्रकार का होता है—व्यक्त और सूक्ष्म। सूक्ष्मार्थ भी दो भेद का है—भावनारूप और वासनीय। भावकों के अवधान

मात्र से विमर्श में भावना होती है। भावना ही भाव्यार्थ है। सहृदयों के सद्व्यापार से समुल्लसित संस्कारसम्पन्न अवधानप्रकर्ष से गम्यार्थप्रतीति वासनीय कही जाती है। कामधेनुकार वासनीय अर्थ को रस प्रक्रिया या रसनिष्पत्ति का ही रूप मानते हैं।[३९]

वर्ण्यमान अर्थ का भङ्ग्यन्तर से प्रकर्षपूर्वकापादन माधुर्य गुण का लक्षण है। अर्थ की अपकर्षता सौकुमार्य गुण में प्राप्त होती है। अग्राम्यत्व ही उदारता है। वस्तु स्वभाव का स्फुट प्रकाशन अर्थव्यक्ति है। शृङ्गारादि रसों की दीप्ति में कान्तिगुण होता है।[४०] इस प्रकार वामन के अर्थगुणों में रसवत्ता की पूर्ण क्षमता है। यह रसवत्ता उनकी रीतियों में व्यवस्थित है। अर्थ का परिपाक गुणों में है—

गुणस्फुटत्वसाकल्यं काव्यपाकं प्रचक्षते।
चूतस्य परिणामेन स चायमुपमीयते॥

चूतपाक प्रशस्य है। पर सुप्तिङ् संस्कार स्वरूप वृन्ताक पाक अग्राह्य है—

सुप्तिङ् संस्कारसारं यत् क्लिष्टवस्तु गुणं भवेत्।
काव्यं वृन्ताकपाकं स्याज्जुगुप्सन्ते जनास्ततः॥[४१]

रसनिष्पत्ति कान्तिगुण में पूर्णतः पायी जाती है। दीप्तरसत्वं कान्तिः की व्याख्या में गोपेन्द्र त्रिपुरहर कहते हैं कि—दीप्ता विभावानुभावव्यभिचारिभिरभिव्यक्ताः।[४२] इस प्रकार विभावदि से रसों की अभिव्यक्ति कान्तिगुण का लक्षण है। वक्रोक्ति के लक्षण में वामन 'सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः'[४३] मानकर लक्षणा की चर्चा करते हैं। सादृश्य में गौणी लक्षणा तथा असादृश्य में शुद्धा। लक्षणा में प्रयोजनादि की प्रतीति को ध्वनिवादी व्यञ्जना का विषय मानते हैं। प्राचीन आलङ्कारिक उसकी प्रतीति अभिधा के भेद लक्षणा तथा तात्पर्यवृत्ति से मानते हैं। वामन को अभिधावादियों की श्रेणी में माना जाता है। अतः ध्वनि का प्रकारान्तर से व्याख्यान यह आचार्य भी करते हैं।[४४] रसादि की अभिव्यक्ति गुणों के माध्यम से मानते हैं।

काव्यप्रकाशकार मम्मट ने यद्यपि वामन के दशगुणों का माधुर्यौज प्रसाद तीन में ही अन्तर्भाव दिखाया है, कुछ को दोषाभाव तथा कतिपय की गुणता का निषेध किया[४५] है तथापि वर्णना की स्थूल व सूक्ष्म विधा में वामनकृत गुण विवेचन न केवल नाट्यशास्त्रीय परिकल्पना के अनुरूप ही है प्रत्युत अर्थाभिव्यक्ति, रसानुभूति और काव्य रचना के अनुकूल भी है।

आचार्य रुद्रट ने काव्यालंकार के द्वितीय अध्याय में—शब्दार्थौ काव्यम्—काव्य का लक्षण किया है और नामाख्यातादि रूप पञ्चधा शब्दोल्लेखपूर्वक नामों की दो वृत्तियाँ कही हैं—समासवती और असमासवती। समासवती में तीन रीतियाँ होती हैं—पाञ्चाली, लाटीया और गौडीया। इनमें क्रमशः लघु, मध्यम और लम्बे समास पाये जाते हैं। पाञ्चाली में दो तीन पदों का समास, लाटीया में पाँच या सात तथा गौडीया में यथाशक्ति भरपूर समास होते हैं। एकमात्र वैदर्भी रीति, असमास में होती है।[४६] नमिसाधु कहते हैं कि ये रीतियाँ अलङ्कार नहीं शब्दाश्रित गुण हैं— एताश्च रीतयो नालङ्काराः, किं

तर्हि शब्दाश्रया गुणा[४७] इति। लगता है उद्‌भटोक्त वृत्तियों का प्रभाव नमिसाधु तथा रुद्रट दोनों पर है। अतः वे रीतियों को शब्दप्रकार में गिनते हैं। यह भी प्रतीत होता है कि रुद्रट ने ध्वनिवादियों के समान ही रीति को महत्त्व नहीं दिया। अनुप्रास प्रसङ्ग में आपने पाँच प्रकार की वृत्तियों का उल्लेख किया है जिनका रीत्यादि से कोई सम्बन्ध नहीं है। गुण के विषय में आप मात्र इतना ही कहते हैं—

अन्यूनाधिकवाचकसुक्रमपुष्टार्थशब्दचारुपदम्।
क्षोदक्षममक्षुण्णं सुमतिर्वाक्यं प्रयुञ्जीत॥
रचयेत्तमेव शब्दं रचनायायाः करोति चारुत्वम्।
सत्यपि सकल यथोदितपदगुणसाम्येऽभिधानेषु॥
रचनाचारुत्वेखलु शब्द गुणः सन्निवेशचारुत्वम्।[४८]

अन्यूनाधिकत्वादि अर्थसमर्पक चारुपदों का प्रयोग काव्य के वाक्य में हो। यह प्रयोग ऐसा हो जो गाम्भीर्यार्थ-युत तथा प्रेरणसमर्थ हो। रचना में उन्हीं शब्दों की संगति है जो रचना की चारुता के कारण बन सके। सन्निवेशचारुता ही रचना की चारुता है, वही शब्द गुण है। इसके अतिरिक्त रुद्रट गुणों या रीतियों के प्रति मौन है।

रीतिगुण के प्रधानाचार्य भरत, दण्डी और वामन हैं। अग्निपुराण का विवेचन दण्डी के समान है। भामह से लेकर ये सभी आचार्य रसों को भी अलङ्कार की कोटि में मानते हैं। अतः इनकी दृष्टि में रसाभिव्यक्ति अभिधा, तदुपभेद लक्षणा तथा तात्पर्यवृत्ति से होती है। दशरूपकार धनञ्जय की रस प्रक्रिया यहाँ द्रष्टव्य है जहाँ वह ध्वनिवाद का खण्डन कर रसादि को वाच्य और ध्वनिरूप अर्थ को तात्पर्य वृत्ति से गम्य मानते हैं—

वाच्या प्रकरणादिभ्यो बुद्धिस्था वा यथा क्रिया।
वाक्यार्थः कारकैर्युक्तः स्थायी भावस्तथेतरैः॥[४९]

उनके अनुसार व्यञ्जनीय रसादिरूप अर्थ ध्वनि न होकर वाच्य ही होते हैं[५०]—

अतो न रसादीनां काव्येन सह व्यंग्यव्यञ्जकभावः।

इस सन्दर्भ में भामहादि के रसवत् लक्षण द्रष्टव्य हैं जहाँ रसादि की वर्णना में रसवत् अलंकार होता है उससे अलंकार्य या भाव्य होते हैं काव्य।[५१]

आनन्दवर्द्धन का संस्कृत काव्यशास्त्र में उदय एक क्रान्तिकारी युग ही बन गया है। उन्होंने अभिधा-लक्षणा से भिन्न व्यञ्जना वृत्ति का निरूपण किया। व्यञ्जना-बोध्य अर्थ को ध्वनि की संज्ञा प्रदान की। ध्वनियों में रस, वस्तु और अलङ्कार स्वरूप त्रिविध ध्वनियों का समावेश किया। ध्वनि को 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः', काव्यात्मा के रूप में निरूपित किया। ध्वनि को लेकर काव्य का त्रिधा विभाग किया।[५२] व्यंग्य प्राधान्य में ध्वनि नामक उत्तम काव्य, व्यंग्य की गौणता में गुणीभूतव्यंग्य नामक मध्यमकाव्य और दोनों की विवक्षा से शून्य शब्दार्थ अलङ्कारों की विवक्षा में चित्र नामका तीसरा अधम काव्य माना। ध्वनियों में रसादि रूप अर्थ को ही प्राधान्येन काव्य की आत्मा आपने स्वीकारा। ध्वनि को अलङ्कार्य मानकर काव्य में अङ्गीभूतरसाश्रित सौन्दर्याधायक तत्त्वों

को ध्वनिवादी गुण तथा अङ्गाश्रित तत्त्व को अलङ्कार का अभिधान प्रदान करते हैं।[५३] रीतियों को वृत्तिस्थानीय मानकर इन लोगों ने उसे काव्य के बहिरङ्ग तत्त्व के रूप में व्यवस्थित कर दिया।[५४] रीतियों को वे वर्णसंघटना का धर्म मानते हैं। ध्वनि के दो प्रमुख भेदों अविवक्षितवाच्य तथा विवाक्षितान्यपरवाच्य ध्वनियों में विवक्षितान्यपरवाच्य (अभिधामूला) ध्वनि के एक भेद असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यरूपरसादि की प्रधान व्यंग्यता में वे ध्वनिकाव्य मानते हैं। इस प्रकाररसादिध्वनियों को काव्यात्म की प्रतिष्ठा मिल गयी। इसके मूल में ध्वनिकार के समर्थक अभिनवगुप्त और मम्मट का भारी योगदान है। ललनालावण्यप्रख्य[५५], सहृदयहृदयसंवेद्य, सर्वधा अवाच्य प्रतीयमान अर्थ की काव्यात्मा के रूप में प्रतिष्ठा हो जाने के बाद ध्वनिवाद में गुणालंकार रीति की भी सम्यक् व्यवस्था की गयी।

आनन्दवर्द्धन की उक्ति है कि नाना प्रकार के वाच्य-वाचक की चारुता के हेतु जहाँ रसादिपरक हो जायँ वहाँ ध्वनि होता है।[५६] अर्थात् शब्दार्थगुणालंकार ध्वनि की अपेक्षा से जहाँ अवस्थित रहें ऐसा विषय ध्वनि का होता है। जहाँ वाक्यार्थ प्रधान हो तथा रसादि उसके अङ्ग बन जायँ वहाँ रसवदादि अलङ्कार होते हैं।[५७] अलङ्कारों की इयत्ता रसभावादि तात्पर्य आदि के अनुरूप निबन्धन में है—

रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्।
अलङ्कृतीनां सर्वासामलङ्कारत्वसाधनम् (ध्व०, पृ० २०८, चौ०)

रसादिरूप अङ्गी का अवलम्बन करने वाले तत्त्व गुण हैं जबकि अलङ्कार कटकादिवत् अङ्गाश्रित हैं—

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्या कटकादिवत्॥ वही, २/६

गुणालङ्कार का उपर्युक्त रीति से विभाजन करने के तत्काल बाद ध्वनिकार गुणों की चर्चा करते हैं। आप कहते हैं कि रसों में शृङ्गार परमाह्लादक है। तन्मय काव्य का आश्रय लेकर माधुर्य गुण प्रतिष्ठित होता है। विप्रलम्भ रूप शृङ्गार तथा करुण में इसका प्रकर्ष पाया जाता[५८] है। काव्यवर्ती रौद्रादिरस अपनी दीप्ति (वामन के शब्दों में कान्ति) से लक्षित होते हैं। उनकी अभिव्यक्ति के कारणभूत शब्द और अर्थ को लेकर ओज गुण व्यवस्थित होता है।[५९] काव्य के सभी रसों के प्रति जिसकी समर्पकता होती है वह प्रसाद गुण है।[६०] शब्दार्थगत सभी क्रियाओं में यह सामान्य रूप से उपलब्ध है। इसका तात्पर्य यह है कि व्यंग्यार्थ की अपेक्षा से ही इसकी समर्पकता बनती है। साथ ही सभी रसों या सभी वर्णरचना में यह तत्त्व सामान्यतया पाया ही जाता है। शब्दार्थ की स्वच्छता ही प्रसाद है। अभिनवगुप्त मानते हैं कि, ध्वनिकार ने माधुर्यौजप्रसाद तीन गुण भामहाभिप्राय से कहा है। वे सामान्यतः प्रतिपत्ताओं द्वारा आस्वाद्य होते हैं। यहाँ आस्वाद्यता मुख्यतः आस्वाद्य रसों में उपचरित है। इस प्रकार वे रसों के व्यञ्चक शब्दार्थ में भी उपचरित होते हैं—

एवं माधुर्यौजः प्रसादाः एते त्रयो गुणा उपपन्ना भामहाभिप्रायेण। प्रतिपत्रा आस्वाघमानतया मुख्यतया तत आस्वाद्ये उपचरिता रसे, ततस्तद् व्यञ्जकयोः शब्दार्थयोरिति।[६१]

हम देखेंगे कि ध्वनिकार यह मानकर चलते हैं कि रीति की उद्‌भावना काव्यात्मा के रूप में उन्होंने की जो ध्वनि का उन्मीलन करने में असमर्थ थे। रुय्यक ने कहा कि, उद्‌भटादि ने गुणालङ्कार का प्रायः साम्य ही सूचित किया है क्योंकि दोनों के भेद का आधार विषयभेद है। गुण संघटना के धर्म हैं, अलङ्कार शब्दार्थ के—

उद्‌भटादिभिस्तु गुणालङ्काराणां प्रायः साम्यमेव सूचितं विषयमात्रेण भेद-प्रतिपादनात्। संघटनाधर्मत्वेन शब्दार्थधर्मत्वेन चेष्टेः।[६२]

अभाववादियों के पक्ष की ध्वनिकारकृत प्रतिष्ठा के सन्दर्भ में अभिनवगुप्त भी कहते हैं कि चारुता दो प्रकार की होती है—स्वरूपमात्रनिष्ठ और संघटनाश्रित। शब्दों की स्ववरूपगत चारुता शब्दालंकारों से होती है, संघटनाश्रित चारुता शब्दगुणों से। इसी प्रकार अर्थों की स्वरूपगत चारुता अर्थालंकारों से होती है और संघटनाश्रित चारुता अर्थगुणों से। इस प्रकार अभाववादी कहता है—दोनों प्रकार का सौन्दर्य इन्हीं गुणों-अलंकारों में है। अतः ध्वनि नहीं है। आगे अभिनव गुप्त यह भी प्रतिपादित करते हैं कि उपनागरिकादि वृत्तियाँ तथा तद्वत् रीतियाँ भी गुणों से भिन्न नहीं हैं।[६३]

ध्वनिकार का मानना है कि अलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि संघटना में भी होता है। संघटना का रूप क्या है?

असमासा समासेन मध्यमेन च भूषिता।
तथा दीर्घसमासेति त्रिधा संघटनोदिता॥ (ध्व०, ३.५)
गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा। रसान्। (वही, ३.६)

संघटना गुणों का आश्रय लेकर माधुर्यादि रसों की अभिव्यञ्जना करती है। संघटना तीन प्रकार की है—समासरहित, मध्यमसमास तथा दीर्घसमासवती। ध्वनिकार के अनुसार कोई भी संघटना किसी भी रस में हो सकती है। वह गुणाश्रित है। किन्तु दोनों एक नहीं हैं—अन्ये गुणा अन्या च संघटना (ध्व० पृ० ३७५)। संघटना के नियम में वक्ता, कवि, कविनिबद्ध वक्ता ही हेतु हैं। वे रसभाव समाहित भी हो सकते हैं, अन्यथा भी। किसी भी रस में किसी से भी किसी प्रकार की संघटना का सहारा लिया जा सकता है।[६४]

ध्वनि, गुणीभूतव्यङ्ग्य आदि का सम्यक् विवेचन करके ध्वनिकार रीति पर आते हैं। आपका मानना है कि यह ध्वनितत्त्व जिन्हें अस्फुटस्फुटित था, वे इसकी व्याख्या करने में असमर्थ थे। अतः उन्होंने रीतियों का प्रवर्तन किया।[६५] आप मानते हैं कि रीतिवादियों को यह काव्यतत्त्व अस्फुटतया कुछ हद तक मन में स्फुरित हो रहा था किन्तु वह उसे ध्वनि नहीं कह पाये। एक बात और भी ध्यान देने योग्य है कि वह यह कहकर रीति की उपेक्षा करते हैं कि ऐसी रीति से मेरा कुछ भी बिगड़ता नहीं—सम्प्रदर्शितेनान्येन रीतिलक्षणेन न किञ्चित्। आगे आप कहते हैं कि ध्वनिप्रकाश हो जाने के बाद जो कोई शब्दतत्त्वाश्रित उपनागरिकादि वृत्तियां, या अर्थश्रित कैशिकी आदि

वृत्तियाँ हैं वे भी तभी तक श्रद्धास्पद हैं जब वे रसादि के प्रति समर्पित हैं, अन्यथा वे अश्रद्धेय, तथा व्यर्थ हैं।

एक तथ्य स्पष्ट है कि ध्वनिकार मानकर चलते हैं कि रीतियों में ध्वनितत्त्व था। भले ही वह अस्फुट था या कि वामन आदि उसे ध्वनि नहीं कह पाये। ध्वनिकार से पूछा जा सकता है कि यदि अस्फुटस्फुरित ध्वनितत्त्व रीति है तो यह मानना ही पड़ेगा कि रीतियाँ रससमर्पक हैं। जहाँ तक उन्हें वृत्तिसमकक्ष मानने और अस्वीकार करने की बात है, या उन्हें वर्णधर्म मानने का प्रश्न है (जैसा कि विद्याचक्रवर्ती आदि ध्वनिसमर्थक मानते हैं), तो गुण भी तो वर्णधर्म है। मम्मट के गुणलक्षण[६६] देखिये—

गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थवोर्मता।
मूर्ध्निवर्गान्त्यगा स्पर्शा अटवर्गा रणौ लघू।
अवृत्तिर्मध्यवृत्तिर्वा माधुर्ये घटना तथा॥
योग आद्यतृतीयाभ्यामन्त्ययो रेणतुल्ययोः।
टादिः शषौ वृत्तिदैर्घ्यं मुम्फ उद्धत ओजसि॥
श्रुतिमात्रेण शब्दात्तु येनार्थप्रत्ययो भवेत्।
साधारणः समग्राणां स प्रसादो गुणो-मतः॥[६७]

ध्वनिवादियों का यह कथन कि रीतियाँ वृत्तिकल्प हैं उनका वाक्छलमात्र है। देखा जाय तो रीति-गुण में कोई भेद नहीं है। लोक धरातल पर भी गुण एक व्यवस्थित रीति-नीति-मर्यादामार्ग में ही अवस्थित होते हैं। गुणों में ही ग्राह्यता होती है। गुणों में ही आत्मा का निखार होता है। अतः रीतिवादी जब रीति को आत्मा मानता है तब वह लोकजीवन से सर्वथा जुड़ा रहता है। अनुभूति के धरातल पर वाच्य-लक्ष्य-व्यंग्य का कोई अर्थ नहीं है। अर्थ है तो केवल व्याख्या और अनुवाद के सन्दर्भ में। मेरे विचार से वामन और आनन्दवर्द्धन को इन्हीं दृष्टियों से देखा जाना चाहिए। प्राचीन आचार्य लोकमानस की बात करता है, ध्वनिवादी शास्त्रकार तथा तत्त्वान्वेषी का। दोनों की व्याख्याओं का अन्तर इसी में है।

ध्वनिवादी मानते हैं कि गुण काव्य के नित्य धर्म हैं क्योंकि वे अङ्गी आत्मा के धर्म हैं, अलङ्कार काव्य के अनित्य धर्म हैं, वे अङ्गद्वारा आत्मा को उपकृत करते हैं। रसाभिव्यक्ति में अलङ्कारों का भी काफी महत्त्व है। यदि काव्य में रसादि की सत्ता है, आत्मभाव है तो अलंकार कदाचित् उसे अलङ्कृत करते हैं। कभी-कभी अलङ्कारों का अनुपयुक्त स्थान में विनिवेश हास्यकारी भी हो सकता है। जैसे, यति शरीर में अलङ्करण। कभी-कभी रसादि के योग में अहृद्य अलङ्कारों यमकादि[६८] का प्रयोग अरुचिकर भी होता है और कभी-कभी वे भारभूत भी लगते हैं। जैसे लावण्यवती कान्ता में पीतल आदि के अलङ्कार या आनन्दपूर्ण युवती में रत्यादि भोग की अवस्था में अलङ्कार भारभूत हो जाते हैं। इसीलिये ध्वनिकार रसादिव्यंग्य में अलङ्कारों के प्रयोग में सावधानी की अपेक्षा रखने की बात करते हैं। आपका कथन द्रष्टव्य है—

रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्।
अलङ्कृतीनां सर्वासामलङ्कारत्वसाधनम्॥[६९]

ध्वनि में वह अलङ्कार अभीष्ट है जो रसाक्षेप कर सके तथा अपृग्यत्ननिर्वर्त्य, अनाहार्य हो। रूपकादि अलङ्कारों की अलङ्कारता इसी में है कि वे खूब समझ-बूझकर ध्वनि में प्रयुक्त हों, विशेषकर जहाँ श्रृङ्गार आत्मरूप में अवस्थित हो। अलङ्कारों की विवक्षा सदैव रसादिपरक होनी चाहिए, अङ्गी के रूप में तो कभी उसे होना ही नहीं चाहिए। यथाकाल अलङ्कारों का ग्रहण-त्याग हो सकता है। अलङ्कारों का निर्वाह लगातार भी नहीं करना चाहिए। निर्वाह हो भी तो अङ्ग रूप में तथा सप्रयत्न उनको देखते रहने चाहिए।[७०] इस प्रकार सोदाहरण ध्वनिकार रसादिरूप व्यङ्ग्य आत्मभूत ध्वनि के लिये अलङ्कारों का उपादेयत्व मानते हैं। अलङ्कार काव्य में कथन को और अधिक स्पष्ट तथा विमल करते हैं। वाग्विकल्प के रूप में यह सहस्रशः अपनी छटा बिखेरते रहते हैं। अतः ध्वनिवाद में भी अलङ्कारों का महत्त्व अक्षुण्ण रहा। लावण्यमयी कान्ता का लावण्यसमुचित अलंकरण प्राप्त कर और भी अधिक दीप्त, समुज्ज्वल तथा प्रेयोजन बल्लभ के लिये आकर्षक, तथा समुद्दीपक होकर रमणी की रमणीयता में कई गुना वृद्धि कर ही देता है। ध्वनिकार के गुणालंकार की निरूपण-पद्धति को यदि हम कुन्तक से तुलित करें तो स्पष्ट होगा कि कुन्तक का सुकुमार मार्ग ध्वनिमार्ग है जिसमें अलङ्कारों की स्थिति ठीक वैसे ही है जैसे ध्वनिकार की दृष्टि में। कुन्तक के गुणों की तथा मार्गों की समीक्षा महत्त्वपूर्ण है। इसे हम वक्रोक्ति प्रसङ्ग में देखेंगे।

ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन के बाद एकमात्र भोजराज ऐसे आचार्य हैं जिनका विवेचन बहुत व्यापक है। अतः हम उनकी दृष्टि से गुण-रीति की चर्चा करेंगे। मम्मट के काव्य लक्षण—'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि' को ध्यान में रखकर भोजराज तथा परवर्ती हेमचन्द्र और वाग्भटादि ने अपने काव्यलक्षण लिखे हैं। भोजराज का कथन है—

निर्दोषं गुणवत्काव्यमलंकारैरलंकृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति॥ स० कं० १/२

आप यह भी कहते हैं कि अलंकृत भी काव्य गुणवर्जित होने पर श्रव्य नहीं रह जाता। इसलिये गुणालंकारयोग में गुणयोग मुख्य है। गुण तीन हैं—बाह्य, आभ्यन्तर और वैशेषिक। बाह्य शब्द गुण हैं, आभ्यन्तरीय अर्थ गुण है और वैशैषिक वे गुण हैं जो दोष के स्थान पर गुण बन जाते हैं। शब्दाश्रित बाह्य गुण के २४ भेद हैं। वे हैं—श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, कान्ति, उदारता, उदात्त, ओज, और्जित्य, प्रेयान्, सुशब्दता, समाधि, सूक्ष्म, गाम्भीर्य, विस्तार, संक्षेप , संमित, भाविक, गति, रीति, उक्ति और प्रौढि।[७१]

सुश्लिष्टपदता में श्लेष, प्रसिद्धपदार्थता में प्रसाद, मृदुस्फुटअविषमवर्णरचना में समता, वाक्यगत पृथक्पदता में माधुर्य गुण होता है। अनिष्ठुरप्राय अक्षरघटना सुकुमार,

सम्पूर्णवाक्यता अर्थव्यक्ति, बन्ध की उज्ज्वलता कान्ति, विकटाक्षर रचना औदार्य, श्लाघ्य विशेषणयोग उदात्त, समासभूयस्त्व ओज, गाढवन्धता ओज, चाटूक्तिगत प्रियतराख्यान प्रेयान्, सुप्तिङ् की व्युत्पत्ति सुशब्दता और अन्य धर्मों का अन्यत्रारोप समाधि है। शब्दों की अन्त:संजल्पना सूक्ष्मता, ध्वनिमत्ता गाम्भीर्य, विस्तारपूर्वक उक्ति विस्तार, समासाभिधान संक्षेप, यावदर्थपदता संमित, भावनापन्नवाक्यवृत्ति भाविक, आरोहावरोहक्रम गति, उपक्रम का निर्वाह रीति, विशिष्ट भणिति उक्ति, उक्ति का प्रौढ परिपाक प्रौढि नामक गुण है।[७२] इस प्रकार भोजराज के शब्दगुणों का लक्षण प्राय: नामानुसारी है। सरस्वती कण्ठाभरण तथा शृंगारप्रकाश दोनों में गुणों के सम्बन्ध में भोज के विचार एक समान ही हैं।[७३]

भोजराज के अनुसार शब्द के वे ही २४ गुण, नाम्ना वे ही अर्थ के भी होते हैं—

अर्थगुणा अप्येत एव चतुर्विंशति:।

संविधान की सुसूत्रता में श्लेष, अर्थ की प्रकटता में प्रसाद, लोकक्रमानुकूल अवैषम्य समता, क्रोधादि में भी अतीव्रता होने में माधुर्य, अनिष्ठुरता में सौकुमार्य, स्वरूप का संक्षेपाभिधान अर्थव्यक्ति, दीप्तरसता में कान्ति, विभावों के उत्कर्ष में उदारत्व तथा आशय के उत्कर्ष में उदात्त गुण होता है। अर्थाध्यवसाय विशेष ही ओज गुण, रूढाहंकारता और्जित्य, अर्थ की अभीष्टता प्रेय, दारुणार्थ का अदारुणार्थ पर्याय सुशब्दता गुण है। व्याज का सहारा लेना समाधि, सूक्ष्मार्थ दृष्टि सूक्ष्म, शास्त्रार्थ की व्यपेक्षा गाम्भीर्य, अर्थ विकास-विस्तार अर्थसंकोच संक्षेप, तुल्यार्थ के रूप में अर्थ-संविभागसंमित साभिप्राय कथन भाविक, अर्थ से अर्थान्तर की प्रतीति गति, अर्थोपपत्ति आदि का क्रियाक्रम रीति, इष्टाभिधान का प्रकारान्तर से कथन उक्ति तथा विवक्षितार्थ का निर्वाह प्रौढि नामक गुण है।[७४] दोषत्यागपूर्वक गुणत्व में वैशेषिक गुण भी २४ होते हैं। वे सभी भोजकृत विवेचना में द्रष्टव्य हैं।[७५] एक तथ्य स्पष्ट है कि दण्डी रीति को गुणों में बाँध देते हैं। भोजराज गुणों का विस्तार करते हैं। २४ की संख्या उन्हें अत्यन्त प्रिय है। अत: गुणालंकार आदि सभी में विभाग २४ से ही करते हैं। शब्दालंकारों में एक अलङ्कार रीति भी है, भोज ऐसा मानते हैं। रीति का स्वरूप कह रहे हैं—**विदर्भादीनां वाक्यरचनावर्त्म रीति:**। अर्थात् विदर्भादि देशों की वाक्यरचना का मार्ग ही रीति है। उसके छ: भेद हैं—वैदर्भी, पाञ्चाली, गौडीया, आवन्तिका, लाटीया और मागधी।

असमस्तपदा वैदर्भी, पाँच-छ: पदों के समास में पाञ्चाली, यथाशक्ति समस्तपदा गौडीया, सभी की मध्यवर्तिनी रीति आवन्तिका, मिश्र रीति लाटीया और खण्ड रीति मागधी कही जाती है—असमस्तपदा वैदर्भी। समस्तपञ्चषपदा पाञ्चाली। यथाशक्ति समस्तपदा गौडीया। वैदर्भादीनामन्तरालरीतिरावन्तिका। मिश्ररीतिर्लाटीया। खण्डरीतिमार्गधी।[७६]

सरस्वतीकण्ठाभरण में आपने रीतियों का लक्षण इस प्रकार किया है—असमासा श्लेषादिनवगुणगुम्फिता विपञ्चीस्वरसौभाग्यवती वैदर्भी रीति है। पञ्चपदसमस्त, ओज-कान्त गुणविवर्जित पाञ्चाली रीति होती है। समस्त, अत्युद्भटपदा, ओज: कान्ति

गुणयुता गौडीया रीति जाननी चाहिए। पाञ्चाली तथा वैदर्भी के बीच की रीति आवन्तिका, समस्तरीतिमिश्रा लाटीया तथा रीतियों के अनिर्वाह में मागधी रीति होती है।[७७] यद्यपि भोजराज ने रीति को शब्दगुण और शब्दालङ्कारों में गिना है, पर रीति का काव्य में भारी महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह कहते हैं कि—

रीतयो वाङ्मयप्राणाः.........अनुप्रासस्तु जीवितम्।[७८]

रीतियाँ साहित्य का प्राण है। इसलिये उनका महत्त्व तो है। एक तथ्य, तथापि चिन्त्य है कि क्या जो स्थान रीतियों को वामन ने प्रदान किया था, वही भोजराज के यहाँ प्राप्त है?

चन्द्रालोककार जयदेव अपने काव्यलक्षण में रीति शब्द का सन्निवेश करते हैं—

निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषणा।
सालङ्काररसानेकवृत्तिर्वाक्काव्यनामभाक्॥ (चन्द्रा०, १.७)

वामन के समान आप भी दश गुणों की व्याख्या करते हैं। जयदेव की व्याख्या अधिक सुस्पष्ट है।[७९]

आचार्य विश्वनाथ रसात्मक वाक्य को काव्य मानते हैं—**वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।** आपका रीतिकृत लक्षण अब तक के लक्षणों से विमल तथा ध्वनिवाद की पूर्ति करता है—

पदसंघटनारीतिरङ्गसंस्थाविशेषवत्। उपकर्त्री रसादीनाम्। (सा० द०, ९/१) पदसंघटना ही रीति है। मुखादिअवयवसन्निवेशविशेषवत् रीति भी काव्य का अंगसंस्थाविशेष है। यह रसादि की उपकर्त्री है। ध्वनिकार तथा भामहादिवत् वह भी मानते हैं कि रीतियाँ तीन ही हैं—वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली इनका लक्षण पर्याप्त स्पष्ट है—

माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णै रचना ललितात्मिका।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते॥
ओजः प्रकाशकैर्वर्णैर्बन्ध आडम्बरः पुनः।
समासबहुला गौडी, वर्णैः शेषैः पुनर्द्वयोः॥
समस्तपञ्चषपदो बन्धः पाञ्चालिका मता।
लाटी तु रीतिर्वैदर्भीपाञ्चाल्योरन्तरे स्थिता॥[८०]

इस प्रकार लाटी को लेकर विश्वनाथ चार रीतियाँ मानते हैं। विश्वनाथकृत गुणालङ्कार भेद तथा गुण का सामान्य लक्षण, गुणों की त्रिविधता तथा उनके विशेष लक्षण मम्मट निरूपण के समान हैं। अतः उनपर विशेष चर्चा ठीक नहीं है। यही नहीं मम्मट के अनुसार ही वह वामनप्रोक्त अतिरिक्त गुणों का भी निषेध करते हैं।[८१] संस्कृत काव्यशास्त्र के अधिकांश आचार्यों के रीति गुण विचार हमने देखे। हमें दो विचारधारायें ज्ञात होती हैं। एक तो यह कि गुण-रीति को काव्य का महत्त्वपूर्ण तत्त्व माना गया। द्वितीय यह कि ध्वनिवाद में रीति का मानपतन हुआ था, पर विश्वनाथ प्रभृति आचार्यों ने उसे पुनः अक्षुण्ण रखने का प्रयास किया। पंडितराज जगन्नाथ ने भी तद्वत् प्राचीन परम्परा का निर्वाह करने की सोची और जो गुणादि के लक्षण लिखे वे विचारणीय हैं। उनका गुणा-

निरूपण कोई नया नहीं है। उनका कथन है कि मम्मट प्रभृति तीन गुण मानते हैं, प्राचीन जरत्तर लोग शब्द और अर्थ के दश गुण। पंडितराज मम्मट की दृष्टि से तीन गुणों में इतर गुणों का अन्तर्भाव तथा वामनप्रोक्त गुणों का लक्षण करते हैं। उनके अनुसार पूर्वलक्षणों में कुछ परिष्कार-करणीय है और उन्होंने किया भी। वह ध्वनिवाद के इस मत से सहमत नहीं हैं कि गुण आत्मा के धर्म है क्योंकि आत्मा निर्गुण है। आप मानते हैं कि माधुर्यादिसृजन ही गुण है और वह है चित्त की द्रुत्यादिसृष्टि। इस प्रकार गुणों में द्रुत्यादिचित्तवृत्तिप्रयोजकता मात्र है। पंडितराज पर राघवन् ने पर्याप्त मात्रा में लिखा है, उन्हीं के ग्रन्थ को यहाँ देखना चाहिए।[८२]

चमत्कार चिन्तामणि में आचार्य विश्वेश्वर ने कुल २३ गुणों की चर्चा की है—

श्लेषः प्रसादः समता माधुरी सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजःकान्तिरूदारता॥
प्रेयः-समाधि रौर्जित्यं सौक्ष्म्यं गाम्भीर्यविस्तरौ।
संक्षेपः शब्दसंस्कारः भाविकत्वं च संमतिः॥
गत्युक्तिरीतयः काव्ये ते त्रयोविंशतिर्मताः॥[८३]

विद्यानाथ स्पष्टतः गुणों को संघटनाश्रित मानते हैं—

संघटनाधर्मत्वेन शब्दार्थगुणत्वेन गुणालंकाराणां व्यवस्थानम्।

इस प्रकार वह गुणों को अर्थगत नहीं मानते। विद्यानाथ ध्वनिकार के प्रति आस्था रखते हुए भी गुण के सम्बन्ध में उनकी सभी बातें स्वीकार नहीं करते। वह भोजकृत २४ गुणों का भी उल्लेख करते हैं, पर सभी से सहमत नहीं हैं।[८४]

केशव मिश्र शब्द के पाँच तथा अर्थ के चार गुण मानकर अन्य सभी का इन्हीं में अन्तर्भाव करते हैं। संक्षिप्तता, उदात्तता, प्रसाद, उक्ति और समाधि ये पाँच शब्द गुण हैं तथा भाविक, सुशब्दता, पर्यायोक्ति, सुधर्मिता ये चार अर्थ गुण हैं। केशवमिश्र भोजकृत वैशेषिक गुणों की भी चर्चा करते हैं।[८५] कविकर्णपूर गोस्वामी सर्वथा ध्वनिकार तथा मम्मट के अनुगामी हैं।

इस निबन्ध का प्रयोजन गुण-रीति में रसापादकता का प्रतिपादन है। संक्षेप में यहाँ मैंने गुण-रीति के इतिहासक्रम और आचार्यों की दृष्टि का सङ्कीर्तन किया है। मुझे वर्तमान में जितने भी ग्रन्थ इस सन्दर्भ में मिल पाये सभी का उपयोग किया है। परवर्ती आचार्यों के मत ध्वनिकार तथा उनके पूर्ववर्ती मतों पर आधृत होने पर भी पर्याप्त मौलिक हैं। रीति के विषय में विद्यानाथ कहते हैं—आत्मोत्कर्षवहास्तत्र-स्वभावा इव रीतयः।[८६]

वह यह भी कहते हैं कि रीतियाँ आहार्य शोभा हैं—

शोभामाहार्यिकीं प्राप्ता रतियो रीतयस्तथा।[८७] वह यह भी कहते हैं कि रीतियों का वृत्तियों में अन्तर्भाव अशक्य है।[८८] एकावली के पञ्चम उन्मेष के अन्त में विद्याधर गुण-रीति का विवेचन करते हैं। वह मम्मट के ही समान तीन गुण, तीन रीतियाँ मानते

हैं। वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली के सङ्कर से वह आवन्तिकादि का जन्म मानते हैं।[९] राजा का मत देते हुए आप कहते हैं— तल्लक्षणं राज्ञोक्तं यथा—

अन्तराले तु पाञ्चाली वैदर्भ्योर्यावतिष्ठते।
सावन्तिका समस्ता स्याद् द्वित्रैस्त्रिचतुरैः पदैः॥
समस्तरीतिव्यामिश्रा लाटीया रीतिरुच्यते।
पूर्वरीतेरनिर्वाहात् खण्डरीतिस्तु मागधी॥[१०]

आप आगे कहते हैं कि दर्शनान्तर में तो वैदर्भी आदि तीन प्रमुख रीतियाँ ही व्यवस्थित हैं।

रीति-गुण-अलङ्कार प्राचीनों की दृष्टि में यद्यपि शोभाधायक तत्त्व होने के कारण अलङ्कार नाम से अभिहित किये गये हैं, तथापि इनमें महान् अन्तर है। यद्यपि वामन ने रीति को आत्मा माना और उनके रीतिगत गुणों में रसवत्ता भी है, व्यंग्य भी है, ध्वनित्व भी है, पर संघटना मात्र होने के कारण रीति ध्वनिवाद में तिरस्कृत हो गयी। साफ बात है कि संघटना वह भी पदों की, आत्मा का स्थान कैसे ग्रहण कर सकती है?

यहाँ यह भी विचारणीय है कि क्या ध्वनिवादियों का रीति का तिरस्कार सर्वथा उस योग्य है? सरस्वती कण्ठाभरण के टीकाकार रामसिंह, रत्नेश्वर के नाम से जिनका उल्लेख प्रो० राघवन् ने भी किया है, वह मानते हैं—

रीतिः साररूपतया काव्यस्यात्मा।

और आगे वह यह भी कहते हैं कि ध्वनिवादियों का कथन भी कितना सारवान् है? उन्हीं की पंक्तियाँ देखिये—

यदि काव्यस्य रसप्रधानात्मकतामाश्रित्यायं विभागः (रसावलम्बिनो गुणाः शब्दार्थवलम्बिनस्त्वलंकाराः) अलङ्कारा अपि तर्हि तत्प्रवणा एव। अथ नायं नियमो यत् सर्वत्र रसः प्रधानमिति। तदा गुणेष्वपि कथं तदालम्बननियमः। किञ्चात्र प्रसादादिवत् श्लेषादयोऽपि शब्दार्थगता एव प्रत्यभिज्ञायन्ते। तत्कथमयं विभागः? यद्यपि शब्दार्थाः ज्ञायन्ते तथापि रसप्रवणा इति चेत् (अलङ्कारा अपि तर्हि ततत्प्रवणा एव। किमिदं रसप्रवणत्वम्? रसाश्रितत्वं तावन्न संभवत्येव। रसप्रतीतिपर्यवसानं च यथा कथञ्चिदलंकारेष्वपि तुल्यमिति अविचारितरमणीयोऽयं मार्गः।[११]

ध्यान देने योग्य हैं कि प्राचीन आचार्य अभिधावादी हैं। उनकी दृष्टि में शब्द-अर्थ प्रधान हैं। अभिधेयार्थ से ही वह सभी तत्त्वों को गतार्थ करते हैं। एक तथ्य और भी है, वह यह कि काव्य के श्रवण, पठन या दर्शन में किसी भी सहृदय प्रमाता को यह पृथक् प्रतीति नहीं होती कि यह, गुण-रीति-ध्वनि-अलङ्कार है। प्रमाता तो केवल आनन्दप्रतीति करता है। आनन्दप्रतीति का स्रोत मूलतः रस ही है। काव्य के सभी तत्त्व उसी के लिये समर्पित होते हैं। इसलिये जब उनके व्याख्यान का प्रश्न खड़ा होता है या पाठक से भिन्न होकर सहृदय व्याख्याता की भूमिका में व्यक्ति खड़ा होता है तब तत्त्व-मीमांसा प्रारम्भ होती है। तत्त्वमीमांसा का मीमांसक यदि स्थूल दृष्टि से विचार

करेगा तो प्रथमतः बाह्यावरणों में निमग्न होगा और उन्हीं के माध्यम से अन्तर तक, योग्यतापेक्षी प्रवेश करेगा। सूक्ष्मतत्त्वार्थविवेचक स्थूल से सूक्ष्म की ओर अग्रसर होता है। रीति-गुण-अलङ्कार से लेकर ध्वनितत्त्वमीमांसा इसी रूप में ली जा सकती है।

रीति-गुण के आचार्यों ने भी रसवत्ता पहचानी थी। प्रायः सर्वोऽप्यलङ्कारः रसमर्थे निषिञ्चति का व्याख्याता या दीप्तरसत्वं कान्तिः—का प्रयोक्ता रस-वियोगी तो हो नहीं सकता। इसलिये रीति-गुण तथा अलङ्कारों में भी रसनीयता होती है। उन्हीं के द्वारा रस-चर्वणा भी होती है, वे रसोद्दीपन का भी काम करते हैं रस-जन्म का भी। वामन के एक उदाहरण से हम इस प्रकरण की परिसमाप्ति करेंगे—

प्रेयान् सायमपाकृतः सशपथं पादानतः कान्तया
द्वित्राण्येव पदानि वासभवनाद् यावन्न यात्युन्मनाः।
तावत् प्रत्युत पाणिसम्पुटगलन्नीवीनितम्बंधृतो
धावित्वैव कृतप्रणामकमहो प्रेम्णो विचित्रा गतिः॥

आचार्य वामन के इस माधुर्याप्लुत कान्तिगुण के उदाहरण में ध्वनिवादी को उत्तम ध्वनि तो मिल ही रही है।

काव्य ललित वचनों की कामधेनु है। काव्य तत्त्वों को इसी भाव से लेना चाहिए।

※

सन्दर्भ-सूची

१. कविस्वभावभेदनिबन्धनत्वेन काव्यभेदः समञ्जसतां गाहते।........कविस्वभावभेद निबन्धनत्वादनन्तभेद भिन्नत्वमनिवार्यं तथापि परिसंख्यातुमशक्यत्वात् सामान्येन त्रैविध्यमेवोपपद्यते। कुन्तक, व०जी०, पृ० ८७ (डॉ० द्विवेदी)

२. धर्मादिसाधनोपायः सुकुमारक्रमोदितः।..........धर्मादिरुपेयभूतस्य चतुर्वर्गस्य साधने संपादने तदुपदेशरूपत्वात् (काव्यम्) उपायः। वहीं, कुन्तक १/३ तथा वृत्ति। धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च। करोति प्रीतिं कीर्तिञ्च साधुकाव्यनिषेवणम्। भामह, काव्या० १/२, वामन का०सू०वृ० १/१/५ मम्मट का०प्र० १/१, इसी प्रकार दण्डी, रुद्रट, विश्वनाथ आदि के विचार द्रष्टव्य हैं।

३. तदुपस्कार्यः पुनरात्मा कैश्चिदपि नाभ्युपगतः। वामनेन तु तदुपस्कार्य आत्मा कश्चिदुक्तः जयरथ, अ०स० विमर्शिणी पृ० ८, येयं संघटनाधर्मभूता रीतिः सैव काव्यात्मेत्युक्ता। वही, विद्याचक्रवर्ती, सञ्जीविनी, पृ० ७-८, रीतिरात्मा काव्यस्य, वामन १/२/६, विशिष्ट पद रचना रीतिः। विशेषो गुणात्मा। वही, १/२ ७,८।

४. अस्फुटस्फुरितं काव्यतत्त्वमेतद्यथोदितम्।
अशक्नुवद्भिर्व्याकर्तुं रीतयः संप्रवर्तिताः॥ ध्वन्या, ३/४६

५. प्रतीयमानं पुनरन्यदेव.........विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु॥ वही, १/४ तथा वृत्ति, व्यंग्योऽर्थो ललनालावण्यप्रख्यो यः प्रतिपादितस्तस्य प्राधान्ये ध्वनिः। वही, पृ० ४५९

६. रीणन्ति गच्छन्त्यस्यां गुणा इति, रीयते क्षरत्यस्यां वाङ् मधुधारेति वा रीतिः। वामन १/२/६ पर कामधेनु पृ० १५; रीङ् गताविति धातोः सा व्युत्पत्त्या रीतिरिष्यते। भोज, स०कं० २/२७ पर रामसिंह की टीका कवि प्रस्थान हेतवः मार्गाः। कुन्तक, व०जी० १/२४, मृग्यते कविभिः आ संसारमिति मार्गः पृ० १५५ रामसिंह वही।

७. प्रचारस्यन्दयोः रीतिः। अमरकोष ३.३.६८ रीयते, रीङ् प्रस्रवणे दिवादिः, रिणाति—री गतिरेषणयोः क्र्यादिः। वही, भानुजी दीक्षित

८. काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः। तदतिशयहेतवस्त्वङ्कराः। वामन वही, ३/३/१,२

९. काव्यं ग्राह्यमलंकारात्। सौन्दर्यमलङ्कारः। वही, १/१/१,२

१०. भरत, ना०शा० १६.१

११. कवेर्यः प्रतिभात्मा प्रथमपरिस्पन्दः तद्व्यापारबलोपनताः गुणाः, प्रतिभावत एव रसाभिव्यञ्जनसामर्थ्यम्, माधुर्यादेरूपनिबन्धनसामर्थ्य न सामान्यकवेः। ....शब्दस्य रसाभिव्यक्तिक्षमार्थप्रतिपादकत्वं स्वत एव श्रोत्रे संक्रान्तिमात्रं नान्तरीयकतया तद्रशनस्पर्शनयोग्यतापादनसामर्थ्याद् गुणवाच्यम्। एवमर्थस्यापि यद्रसाभिव्यक्तिहेतुत्वं सोऽर्थ गुणः। वही, अ०भा०

१२. द्रष्टव्या, ना०शा० १६/९६—११३

१३. डॉ० वी० राघवन्, भोजास्, शृङ्गार प्रकाश, पृ० २६८-२७५

१४. एते दोषास्तु विज्ञेयाः सूरिभिर्नायकाश्रयाः।
तत एव विपर्यस्ताः गुणाः काव्येषु कीर्तिताः॥ ना०शा० १७/९५

१५. द्रष्टव्य—डॉ० नगेन्द्र की भूमिका, का०सू०वृ० पर पृ० २६

१६. वही, डॉ० नगेन्द्र

१७. भामह, काव्यालङ्कार २/१-३

१८. काव्यालङ्कार सार संग्रह की भूमिका, पृ० ३१

१९. राघवन्—वही, पृ० १९३, काव्यालङ्कार की भूमिका, डॉ० देवेन्द्रनाथ शर्मा, पृ० ३९

२०. भामहालङ्कार ३.५३

२१. डॉ० एस०के०डे०, सम प्रॉब्लम्स ऑफ़ संस्कृत पोइटिक्स—भामहास् व्यूज़ ऑन गुण् स, पृ० ५४-६४

२२. सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽ नया विना॥ का० २/८५
वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः। काव्या० १/३६

२३. अनयाऽतिशयोक्त्या अर्थः समकलजनोपभोगपुराणीकृतोऽपि विचित्रतया भाव्यते, प्रमदोद्यानादिः विभावतां नीयते, विशेषेण च भाव्यते रसमयी क्रियते। ध्वन्यालोक लोचन, पृ० ४६७-६८

२४. युक्तं वक्रस्वभावोक्त्या सर्वमेवैतदिष्यते।
वैदर्भमन्यदस्तीति मन्यन्ते सुधियोऽ परे॥
तदेव च किल ज्यायः सदर्थमपि नापरम्॥
गौडीयमिदमेकन्तु वैदर्भमिति किं परम्।
गतानुगतिकन्यायान्नानाख्येयममेधसाम्॥
ननु चाश्मकवंशपदि वैदर्भमिति कथ्यते।
कामं तथास्तु प्रायेण संज्ञेच्छातो विधीयते॥ का० १/३०-३३

स्पष्ट है कि भामह वक्र-स्वभाव कथन को ही प्रमाण मानते हैं। काव्य के सन्दर्भ में यह वैदर्भ है, यह गौडीय कोई मतलब नहीं रखता। सदर्थ कोई भी हो अच्छा है, किसी एक पर आग्रह, गतानुगतिकता के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। नाना प्रकार का अभिधान अमेधोजन की उपज है। नाम तो इच्छानुसार रखे जा सकते हैं।

२५. व्यक्तिविवेक, व्या०, पृ० १८; इह हि तावद् भामहप्रभृतयश्चिरन्तनालङ्कारकाराः। अ०स० पृ० २

२६. इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली काव्यम्। काव्यादर्श, १/१०
श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्।
भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिः वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्॥ वही, २/३६०
यच्च सन्ध्यङ्ग वृत्त्यङ्ग लक्षणाद्यागमान्तरे।
व्यावर्णितमिदं चेष्टमलंकारतयैव नः॥ वही, २/३३६

२७. चिरन्तनानां चायमेव पक्षः। तथाहि दण्डिना स्वालङ्कारलक्षणेऽ भ्यधायि-रतिः शृङ्गारतां गता रूपवाहुल्ययोगेन, अधिरूह्य परां कोटिं कोपो रौद्रात्मता गतः। अ०भा०, पृ० २७२

२८. श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्तिसमाधयः॥
इति वैदर्भमार्गस्य प्राणाः दशगुणाः स्मृताः।
एषां विपर्ययः प्रायः दृश्यते गौडवर्त्मनि॥ वही, १, ४१-४२

२९. रत्न श्री वही, १.४२ पर टीका

३०. द्रष्टव्य, वही, १.४०-९३

३१. रुप्यक, अलं सर्वस्व, पृ० ८, का०प्र० ४७०

३२. काव्यं ग्राह्यमलंकारात्। सौन्दर्यमलंकारः। शास्त्रतस्ते। वही वामन-का० सू० १.१.१-४; तथा रीतिरात्मा काव्यस्य। विशिष्टपदरचना रीतिः। विशेषो गुणात्मा। सा त्रेधा......। समग्रगुणा वैदर्भी। ओजःकान्तिमती गौडीया। माधुर्यसौकुभार्योपपन्ना पाञ्चाली।........तस्यामर्थगुण सम्पदा-स्वाद्या। सापि वैदर्भी तात्स्थ्यात्। वही, १.२.१-२२

३३. राजशेखर, काव्यमीमांसा, पृ० ५२-५३

३४. काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः। तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः। पूर्वे नित्याः। ओजः प्रसादश्लेषसमतासमाधिमाधुर्यसौकुमार्योदारताऽर्थव्यक्तिकान्तयो बन्धगुणाः। वही, ३.५.१-५

३५. रीतिध्वनिवादिमतयोः इयांस्तु विशेषः। ध्वनिरात्मा काव्यस्य, स एव तद्‌व्यवहार प्रयोजकः, इत्युभयत्राप्यात्मनिष्ठा गुणाः। शब्दार्थयुगलं शरीरं, तन्निष्ठा अलङ्कारा इति सर्वमविशिष्टम्। किं समस्तैः गुणैः काव्यव्यवहारः उत कतिपयैः। यदि समस्तैः तत् कथमसमस्तगुणा गौडीया पाञ्चाली वा रीतिः काव्यस्यात्मा?........कामधेनु पृ० ८५; द्रष्टव्य, मम्मट काव्य प्रकाश, अष्टम उल्लास, पृ० ४७१-७२

३६. ......स्वयमेव पृष्टं स्वयमेवाचष्टव्यम्। तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि इति काव्यसामान्यलक्षणे शब्दार्थयोर्गुणसाहित्यमिष्यते। किं गुणसमष्टिविशिष्टं काव्यं, तद्‌व्यष्टिविशिष्टं वा? नाद्यो निरवद्यः एकैकोदाहरणेषु काव्यत्वाभावात्।........ किञ्च सर्वे रसाः संभूय काव्यात्मीभवन्ति? उत एको रसः?.........आत्मविधुरेषु काव्य व्यवहारभावप्रसङ्गः इत्यलम्......... कामधेनु, वही, पृ० ८६

३७. गाढबन्धत्वमोजः। शैथिल्यं प्रसादः। मसृणत्वं श्लेषः। मार्गाभेदः समता। आरोहावरोहक्रमः समाधिः। पृथक्पदत्वं माधुर्यम्। अजरठत्वं सौकुमार्यम्। विकटत्वमुदारता। अर्थव्यक्ति-हेतुत्वमर्थव्यक्तिः। औज्ज्वल्यं कान्तिः। वही, का०सू०वृ० ३.१.५-२५

३८. पदन्यासस्य गाढत्वं वदन्त्योजः कवीश्वराः।
अनेनाधिष्ठिताः प्रायः शब्दाः श्रोत्ररसायनम्।
× × ×
औज्ज्वल्यं कान्तिरित्याहुर्गुणं गुणविशारदाः।
पुराणचित्रस्थानीयं तेन वन्ध्यं कवेर्वचः॥ वही, सूत्र २५ के अन्तरलोक

३९. कामधेनु, पृ० ११२

४०. अर्थस्य प्रौढिरोजः। अर्थवैमल्यं प्रसादः। घटना श्लेषः। अवैषम्यं समता। अर्थदृष्टिः समाधिः। उक्तिवैचित्र्यं माधुर्यम्। अपारुष्यं सौकुमार्यम्। वस्तुस्वभावस्फुटत्वमर्थव्यक्तिः। दीप्तरसत्वं कान्तिः। वही, ३.२.२-१५

४१. वही, पृ० ११७

४२. कामधेनु, पृ० ११८

४३. वही, ४.३-८

४४. ध्व० पृ० ३२, तथा लोचन, वामनेन तु सादृश्यनिबन्धनायाः लक्षणायाः वक्रोक्त्यलंकारत्वं ब्रुवता कश्चिद् ध्वनिभेदोऽलङ्कारतयैवोक्तः। अ०स० पृ० ७, ध्वनिभेदो लक्षणामूलोऽत्यन्तरिस्कृतवाच्योनामालङ्कारत्वेनोक्तः। वही, विद्या चक्रवर्ती।

४५. का०प्र०, माधुर्यौजः प्रसादाख्यास्त्रयस्ते न पुनर्दश ८.६८/१

४६. नाम्ना वृत्तिर्द्वेधा भवति समासासमासभेदेन।
वृत्तेः समासवत्यास्तत्र स्यू रीतयस्तिस्रः॥
पाञ्चाली लाटीया गौडीया चेति नामतोऽ भिहिताः॥
लघुमध्यायतविरचनसमासभेदादिमास्तत्र ॥काव्या० २/३-४
वृत्तेरसमासाया वैदर्भी रीतिरेकैव॥ वही, २/६/२
४७. वही, वृत्ति २/६ पर नामिसाधु।
४८. वही, रुद्रट, २/८-९
४९. दशरूपक (धनञ्जय) ४-३७ तथा वृत्ति
५०. तात्पर्यानतिरेकाच्च व्यञ्जनीयस्य न ध्वनिः।
× × ×
यावत्कार्यप्रसारित्वात्तात्पर्यं न तुलाधृतम्॥ वही, अवलोक संग्रहकारिका १-७
५१. रसवद्दर्शितस्पष्टशृङ्गारादिरसं यथा। भामह, ३/६; प्रेयः प्रियतराख्यानं रसवद् रस पेशलम्॥ काव्यादर्श, २/२७३; उद्भट, ४/३; अ०पु० ३४२/१-१२
५२. काव्यस्यात्मा ध्वनिः। ध्व० १/१; यत्रार्थः शब्दो वा.......व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥ वही, १/१३; सह्यर्थो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तं वस्तुमात्रमलंकाररसादयश्चेति। वही, पृ० ५१ (चौ०); द्रष्टव्य—उत्तम, मध्यम, काव्य लक्षणार्थ मम्मट-का०प्र०, १-सूत्र २,३,४ तथा ध्वन्यालोक-१-३ उद्योत
५३. ये रसस्याङ्गिनो धर्मा शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः॥
उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलङ्कारा स्तेऽनुप्रासोपमादयः॥ का०प्र० ८/६६-६७
५४. शब्दालंकारेभ्योऽपि यो बाह्यो वर्णालङ्कारोऽनुप्रासः तत्समकक्षका एता रीतयः। संञ्जीविनी, पृ० ८
५५. प्रतीयमानं पुनरन्यदेव........विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु। वही, १/४
५६. वाच्यवाचकचारुत्वहेतूनां विविधात्मनाम्।
रसादिपरता यत्र स ध्वनेर्विषयो मतः॥ वही, २.४
५७. प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गन्तु रसादयः।
काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः॥ २-५
५८. शृङ्गार एव मधुरः परः प्रह्लादनो रसः।
तन्मयं काव्यमाश्रित्य माधुर्यं प्रतितिष्ठिति॥ ध्व० २-८
५९. रौद्रादयो रसा दीप्त्या लक्ष्यन्ते काव्यवर्तिनः।
तद्व्यक्तिहेतू शब्दार्थावाश्रित्यौजो व्यवस्थितम्॥ वही, २.९
६०. समर्पकत्वं काव्यस्य यत्तु सर्वरसान् प्रति।
स प्रसादो गुणो ज्ञेयः सर्वसाधारणक्रियः॥ वही, २.१०
६१. लोचन ध्व १/१० की टीका, पृ० २२४-२५
६२. अलं सर्वस्व, पृ० ८
६३. द्विविधं हि चारुत्वं, स्वरूपमात्रनिष्ठं संघटनाश्रितं च।
......न वृत्तिरीतयो गुणालङ्कारव्यतिरिक्ताः। लोचन, पृ० १८-२२
६४. ध्व० पृ० ३४३-३५७

६५. ध्व० ३.४६ तथा वृत्ति

६६. आह्लादकत्वं माधुर्यं शृङ्गारे द्रुतिकारणम्।
करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्॥
दीप्त्यात्मविस्तृते र्हेतुरोजो वीररसस्थितिः।
बीभत्स रौद्र रसयोस्तस्याधिवयं क्रमेण च॥
शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छजलवत्सहसैव यः।
व्याप्नोत्यन्यत्प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः॥ का० पृ० ८.६८.७०

६७. वही, ८.७२-७४

६८. ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे यमकादिनिबन्धनम्।
शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः॥ वही, २.१५
अचेतनं शवशरीरं कुण्डलाद्युपेतमपि न भाति, अलंकार्यस्याभावत्।
यतिशरीरं कटकादियुक्तं हास्यावहं भवति अलङ्कारस्यानौचित्यात्। लोचन पृ० २०९

६९. वही, पृ० २०८

७०. रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियोभवेत्।
अपृग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलङ्कारो ध्वनौ मतः॥
ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे समीक्ष्य विनिवेशितः।
रूपकादिरलङ्कारवर्ग एति यथार्थताम्॥
विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन।
काले च ग्रहणत्यागौ नातिनिर्वहणैषिता॥
निर्व्यूढापपि चाङ्गत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम्।
रूपकादिरलङ्कारवर्गस्याङ्गत्वसाधनम्॥ वही, २/१५-१९

७१. अलंकृतमपिकाव्यं न श्रव्यं गुणवर्जितम्।
गुणयोगस्तयोर्मुख्यो गुणालङ्कारयोगयोः॥
त्रिविधाश्च गुणाः काव्ये भवन्ति कविसंमताः।
बाह्याश्चाश्चाभ्यान्तराश्चैव ये च वैशेषिका इति॥
बाह्याः शब्दगुणास्तेषु चान्तरास्त्वर्थसंश्रयाः।
वैशेषिकास्तु ते नूनं दोषत्वेऽपि हि ये गुणाः॥
चतुर्विंशतिराख्यास्तेषु शब्दस्य संश्रयाः।
ते तावदमिधीयन्ते नामलक्षणयोगतः॥ सरस्वती कण्ठाभरण १.५९-६२

७२. उनके नाम, वही, १/६३-६५

७३. अयमेव च गुणालंकारयोर्विशेषो यद्गुणोपादाने नियमोऽलङ्कारयोगे तु कामचार इति गुणाश्च युवत्याः शरीरेषु विविधास्तदर्थिनामादरातिशयहेतवो भवन्ति बाह्याः आन्तरा वैशेषिकाश्च। तत्रान्ववाययोरुपलावण्यादयो बाह्याः, शीलवैदग्ध्यमाहाभाग्यसौभाग्याद-यश्चान्तराः। ये तु दोषा आश्रयविशेषाद्युपाधेर्गुणत्वमाश्रीयन्ते ते वैशेषिकाः। यथोच्यते।

सामण्णसुन्दरीणं विभ्रममावहइ अविणओच्चेअ।
धूमोच्चिअपज्जलिआ हिबहुमहोसरहिदाकूणा॥

काव्यशरीरेऽपि ते त्रिधैव। तत्र बाह्याः शब्दगुणा। ते ह्यन्ववायवद् बाह्यत्वे नावभासन्ते। आन्तरा अर्थगुणास्ते सौशील्यादिद्विमर्शेन ज्ञायन्ते। वैशेषिका शब्दगुणा, ते हि प्रभाव

विशेषाद्युपाधेर्दोषा अपि गुणत्वेन व्याख्यायन्ते। तत्र शब्दगुणाश्चतुर्विशंतिः ।........शृङ्गार प्रकाश, नवमाध्याय पृ० ३४०-३४१ तथा इनके लक्षण स०कं० तथा शृं०प्र० दोनों में समान है।

७४. द्रष्टव्य, स०कं० १/७८-८८ तथा शृं०प्र० पृ० ३४४-३४९

७५. वही, स०कं० तथा शृं०प्र० के दोष प्रकरण

७६. द्र०शृं०प्र० पृ० ३७३, स०कं० वैदर्भादिकृतः पन्थाः काव्ये मार्ग इति स्मृतः। रीङ्गताविति धातोः सा व्युत्पत्त्या रीतिरिष्यते॥ वैदर्भी साथ पाञ्चाली, गौडीयावन्तिका तथा। लाटीया मागधी चेति षोढा रीतिर्निरूप्यते॥ २/२७.२८ रसावियोग के सन्दर्भ में भोजराज ने प्रबन्ध गुण का विस्वतार से विवेचन किया है। द्रष्टव्य, शृं०प्र० पृ० ४७१-७२; राघवन्, पृ० ३१३

७७. स०कं० २/२९-३३.१

७८. वही, पृ० ३८९, शृं०प्र० ११

७९. जयदेव चन्द्रलोक चतुर्थ मयूख।

८०. साहित्य दर्पण ९/१-५

८१. द्रष्टव्य, वही, ८/१-१६

८२. द्रष्टव्य, रसगंगाधर, (निर्णयसागर १९१६) पृ० ५३-७४ राघवन्भोजा, स् शृङ्गार प्रकाश, पृ० ३४९-३५०

८३. राघवन्, वही, पृ० ३२१

८४. वही, राघवन्, पृ० ३२२

८५. वही, राघवन्, पृ० ३२३

८६. प्रतारुद्रीय, १/३

८७. वही, १/४

८८. वैदर्भीप्रभृतयो रीतिविशेषाः न वृत्तिष्वन्तर्भूताः। वही, पृ० ३५

८९. एकावली, पृ० १४७-१५० (बाम्बे सं० सीरीज़)

९०. वही, पृ० १५०

९१. सरस्वतीकण्ठाभरण, रामसिंह टीका, पृ० ५०; राघवन् उपर्युक्त पदों को रत्नेश्वर का मानते हैं किन्तु काव्यामाला-४७, १९३४ के स०कं० में यह टीकाकार रामसिंह ही हैं। देखिये राघवन्, पृ० ३१६

※

वक्रोक्ति सिद्धान्त

संस्कृत काव्यशास्त्र में वक्रोक्ति का मूलत: तीन अर्थों में प्रयोग किया गया है। प्रारम्भिक अवस्था में अतिशयोक्त्यपरपर्याय वक्रोक्ति सर्वालङ्कारसामान्य तत्त्व हैं। इस तथ्य को भामह से लेकर ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन, तदनुयायी अभिवनगुप्त, मम्मट आदि सभी आचार्य स्वीकार करते हैं। आचार्य कुन्तक भी इस विचार से अस्पृष्ट नहीं हैं। द्वितीय अवस्था में भामहप्रोक्त यही वक्रोक्ति पल्लवित होकर एक सिद्धान्त या प्रस्थान का रूप ले लेती है, जिसकी प्रतिष्ठा का श्रेय आचार्य कुन्तक को है। तृतीय अवस्था में वक्रोक्ति एक सीमित अर्थ में, एक अलङ्कारविशेष के रूप में प्रस्फुटित होती है। वामन की दृष्टि में यह सादृश्याश्रित लक्षणापरक एक अर्थालङ्कार है तो आचार्य रुद्रट और तदनुयायी मम्मट, विश्वनाथ प्रभृति की दृष्टि में काकु और श्लेष पर निर्भर, शब्दालङ्कार मात्र सीमित, वक्रोक्ति अलङ्कार।

संस्कृत काव्यशास्त्र के मर्मज्ञ इतिहासकारों ने वक्रोक्ति शब्द की प्राचीनता पर विचार किया है। उनके अनुसार महाकवि बाणभट्ट तथा अमरुक कवि ने वक्रोक्ति शब्द को क्रीडालाप अथवा परिहास-कथन के रूप में प्रयुक्त किया है।[१] नवीं शती के कवि 'राघवपाण्डवीयम्' के प्रणेता कविराज ने सुबन्धु, बाण तथा स्वयं को वक्रोक्ति मार्ग निपुण घोषित किया है।[२] तीनों कवियों की रचनाओं को देखकर तो यही स्पष्ट होता है कि यहाँ वक्रोक्ति को श्लेषमूला या यों कहें कि रुद्रट-मम्मट की दृष्टि से देखा गया है। कुन्तक के पूर्ववर्ती आचार्य आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि के अभाववादियों के मत का उपसंहार करते हुए मनोरथ नाम के आचार्य की उक्ति प्रस्तुत की है—''यस्मिन्नस्ति न वस्तु किञ्चन मनः प्रह्लादिसालङ् कृतिः, व्युत्पन्नै रचितं च नैव वचनैर्वक्रोक्तिशून्यं च यत्.........।''[३] इसकी व्याख्या में, जिसका संकेत डॉ० दे ने भी किया है, अभिनवगुप्त का कथन है कि—वक्रोक्तिरुत्कृष्टा सङ्घटना। तच्छून्यमिति शब्दार्थगुणानाम्—वक्रोक्ति उत्कृष्ट संघटना है। उससे शून्य का अर्थ है—शब्दार्थ गुणों का अभाव। वहीं आपका यह भी कथन है कि वक्रोक्तिशून्य शब्द से, अलङ्कारों के वक्रोक्तिरूप सामान्य लक्षणों के अभाव में सर्वालङ्कार-अभाव अर्थ अभिव्यक्त होता है, ऐसा भी कुछ लोग मानते हैं।[४] निःसन्देह यहाँ अभिनवगुप्त का सङ्केत अलङ्कारवादी आचार्यों की ओर ही है जो ध्वनि को तो स्वीकार नहीं ही करते हैं और अतिशयोक्ति के अभाव में अलङ्कार की सत्ता नहीं मानते है।

भामह को अलङ्कार-प्रजापति कहा जाता है[५], यह विशुद्ध रूप से अलङ्कारवादी आचार्य हैं। ध्यान देने योग्य है कि वामन ने स्पष्ट शब्दों में सौन्दर्यमात्र को अलङ्कार की संज्ञा दी है—सौन्दर्यमलङ्कारः।[६] उनसे पूर्व दण्डी ने समस्त शोभाकार काव्यतत्त्वों को अलङ्कार की कुक्षि में डाल दिया—काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते[७]—कहकर। इस दिशा में देखा जाय तो भामह भी अलङ्कारवादी तो हैं, पर उन्हें

वक्रोक्तिवादी[८] भी कहा जाय तो कोई अनुचित नहीं होगा, क्योंकि जहाँ वह—न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम्—कहकर काव्यालङ्कार का समर्थन करते हैं, वहीं वह सारे अलङ्कारों में वक्रोक्ति की सत्ता अनिवार्य रूप में रहती है, इसका भी उद्घोष करते हैं—

सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यन्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना॥[९]

और वक्रोक्ति के अभाव में हेतु, सूक्ष्म तथा लेश को अलङ्कार मानने को वह उद्यत नहीं है।[१०] वक्रोक्तिशून्य उक्तियाँ—सूर्य अस्त हो गया, चन्द्र शोभायमान है आदि कथन उनकी दृष्टि में वार्तामात्र हैं।[११] इसी प्रकार भामह ने अनेकधा वक्रोक्ति की चर्चा की है।[१२] चाहे काव्य हो या अलङ्कार, सभी में वक्रोक्ति का समावेश वाञ्छित है, पर भामह की दृष्टि में वक्रोक्ति कोई अलङ्कार विशेष नहीं है अन्यथा अन्य अलङ्कारों के संयोग में संसृष्टि या सङ्कर का प्रसङ्ग उपस्थित होता है। लोकातिक्रान्तगोचर कविवचन ही जब गुणातिशय का सम्पर्क सुलभ कर जाता है तब वह वक्रोक्तिपदवीविभ्राट् बन जाता है।[१३] इस प्रकार यह एक काव्यतत्त्व विशेष है, जो काव्य के प्रतिप्रसङ्ग में अनुस्यूत रहता है, कविता का आवश्यक, अपरिहार्य धर्म है।

भामह-प्रोक्त वक्रोक्ति की व्याख्या आचार्य आनन्दवर्द्धन ने भी प्रस्तुत की है। अलङ्कारों के अलङ्कारान्तरव्यङ्ग्यसंस्पर्श के सन्दर्भ में आपका स्पष्ट अभिमत है कि—प्रथमं तावदतिशयोक्तिगर्भता सर्वालङ्कारेषु शक्यक्रिया। कृतैव च सा महाकविभिः कामपि काव्यच्छविं पुष्यति।.......भामहेनाप्यतिशयोक्तिलक्षणे यदुक्तम्—सैषासर्वैव वक्रोक्तिः.......सैव सर्वालङ्काररूपा इत्ययमेवार्थोऽवगन्तव्यः।[१४]—सभी अलङ्कारों में अतिशय का योग रहता है, उसी से कविजन काव्य में लोकोत्तर काव्यच्छटा की सृष्टि करते हैं। अतिशयोक्ति जिस अलङ्कार में विराजती है, कविप्रतिभा के कारण उसमें चारुत्वातिशय का योग बन पड़ता है, जहाँ वह नहीं होती, वहाँ अलङ्कार कथनमात्र को होता है। इस प्रकार वक्रोक्ति सर्वालङ्काररूप है। इसी सन्दर्भ की व्याख्या करते हुए आचार्य अभिनव गुप्त कहते हैं कि काव्य का कोई प्रकार नहीं है, जहाँ अतिशययोगिता उत्कर्ष का आधान न करे। कवि हृदयस्थ औचित्यवश अतिशय का प्रयोग करता है, जिससे उसके काव्य में लोकोत्तर शोभा की सृष्टि होती है। अतिशयोक्ति ही वक्रोक्ति है, अलङ्कार का सब प्रकार है। शब्द और अर्थ की लोकोत्तर अवस्थिति ही दोनों की वक्रता है। लोकोत्तरता ही अतिशय है, इसलिये अतिशयोक्ति सर्वालङ्कार सामान्य तत्त्व है। इससे पुरातन भी अर्थ विचित्रया भावित होता है, प्रमदोद्यानादि विभावता को प्राप्त होते हैं, अर्थविशेष रूप से भावित होता है रसमय कराया जाता है।[१५] आचार्य अभिनवगुप्त तो यहाँ तक मानते हैं कि समस्त अर्थालङ्कारों के बीजभूत तथा कथा में वैचित्र्य लाने वाले वक्रोक्तिरूप चमत्कार ही लक्षण शब्द से व्यवहृत किये जाते हैं—**समस्तार्थालङ्कारवर्गस्य बीजभूताश्चमत्काराः कथाशरीरवैचित्र्यदायिनो वक्रोक्तिरूपा,**

लक्षणशब्देन व्यवह्रियन्ते (नाट्यशास्त्र १६/३० पर अभिनवभारती)। इस कथन से भी वक्रोक्ति की व्यापक अर्थवत्ता प्रमाणित है। डॉ० राधावल्लभ त्रिपाठी का यह कथन है कि लक्षण तत्त्व ही भामह-कुन्तक प्रोक्त वक्रोक्ति बन गया, विचारणीय है। इस प्रकार "अनयार्थो विभाव्यते" की सङ्गति अभिनवगुप्त की व्याख्या में ही ठीक बन पाती है और आचार्य भामह की वक्रोक्ति (अतिशयोक्ति) ध्वनिवादी के ध्वनि सिद्धान्त तक का स्पर्श करती है। अलङ्कार, वस्तु और रस तीनों की विभावक है वक्रोक्ति। भामहाचार्य की काव्यव्यापिनी वक्रोक्ति को आचार्य कुन्तक की प्रतिभा ने सम्यक् निभालित किया और उसे एक प्रतिष्ठित सिद्धान्त का सर्वाङ्गीण रूप दिया। इसलिये वक्रोक्ति-सिद्धान्त पर विस्तृत चर्चा तो कुन्तक के मत के निभालन में ही हो सकती है, पर उसके पूर्व एक आचार्य और हैं—काव्यादर्श के प्रणेता दण्डी। वक्रोक्ति के विषय में दण्डी के विचारों का समीक्षण करने के अनन्तर ही हमें कुन्तक तक पहुँचने में सुविधा भी मिलती है, अत: दण्डी के कथन का भारी महत्त्व है, यह महत्त्व इसलिये भी है कि कुन्तक के कतिपय विवेचनों पर दण्डी का पर्याप्त प्रभाव है।

आचार्य भामह ने वक्रोक्ति को काव्य का आवश्यक उपादान तथा सर्वालङ्कार सामान्य स्वीकार किया। इसी सन्दर्भ में उन्होंने स्वभावोक्ति का उल्लेख तो किया, पर उस पर उन्होंने विशेष ध्यान नहीं दिया। महाकाव्य की परिभाषा के उपसंहार में आपने—युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलै: पृथक्[१६]—कहकर लोकस्वभाव का समादर तो किया है, पर वक्रता के अभाव में, जैसा कि पूर्वपंक्तियों में कह आये हैं, हेतु, सूक्ष्म और लेश को अनलङ्कार सिद्ध किया और पशु-पक्षियों—सूर्योदयास्तादि के वर्णन को वार्तामात्र। स्वभावोक्तिरलङ्कार इतिकेचित्प्रचक्षते[१७]—कहकर उन्होंने स्वभावोक्ति के प्रति अपनी अरुचि ही नहीं दर्शायी प्रत्युत........ बालक खेत से गायों को हाँक रहा है[१८]—जैसे उदाहरण देकर उसे आपने—धीरवेदायैव—कहकर तिरस्कृत भी किया है। भामह की इस अरुचि को देखकर ही डॉ० सु०कु० दे ने यह मन्तव्य व्यक्त किया है कि संस्कृत के आचार्यों में प्रकृति के (मृदु-रुक्ष-सुख-दु:खमय) भावों की वर्णना के प्रति वैसी रुचि नहीं देखी जाती, जैसी पाश्चात्त्य समीक्षक कवियों में पायी जाती है।[१९]

आचार्य दण्डी ने वक्रोक्ति को स्वीकार तो अवश्य किया पर उसकी व्यापकता को सीमित कर दिया। उनकी मान्यता है कि सभी वक्रोक्तियों-वक्रकथनों में श्लेष शोभासृष्टि करता है। यही नहीं अलङ्कार वाङ्मय ही दो प्रकार का निष्पन्न होता है—स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति भेद से। दण्डी की कारिका दर्श्य है—

श्लेष: सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्।
भिन्नं द्विधा स्वभावोक्ति: वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्॥[२०]

इसकी व्याख्या में रत्नश्री टीकाकार का व्याख्यान है कि "स्वभावोक्ति के अतिरिक्त अन्य सभी अलङ्कारों में श्लेष सौन्दर्य की सृष्टि करता है। भिन्न-भिन्न प्रकार की परिकल्पनाओं से मण्डित वक्र-सूक्तियाँ ही वक्रोक्ति हैं। कारिका में प्रयुक्त प्राय: शब्द बाहुल्यार्थ में है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि कहीं-कहीं श्लेष बाहुल्यार्थ में है।

इससे यह भी सुस्पष्ट होता है कि कहीं-कहीं श्लेष सौन्दर्य का पोष नहीं भी करता है। प्राय: शब्द से यह भी बोध होता है कि कभी-कभी स्वभावोक्ति में भी श्लेष श्रीविधान करता है। अलङ्कारकाव्य ही दो प्रकारों में विभक्त होता है—स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति रूप में। स्वभावोक्ति जाति को कहते हैं जो यथावस्थित विचित्र पदार्थ को परिदीपित करती है। वस्तु स्वभाव का नानारुप में अन्यथा विधान स्वरूप विचित्र प्रभेद-समन्वित उपमादि अलङ्कारजात वक्रोक्ति है।"[२१] टीकाकार ने यहाँ दण्डी के अभिमत को तो व्यक्त किया ही है स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति के स्वरूप को भी निरूपित किया है। इस सन्दर्भ में लगभग ऐसे ही विचार हृदयङ्गमा में भी पाये जाते हैं, पर तरुणवाचस्पति की दृष्टि किंचित् भिन्न है।[२२]

आचार्य भामह ने स्वभावोक्ति पर अपनी अरुचि दर्शायी थी, पर दण्डी ने न केवल उसे वाङ्मय विभाजन का एक आधार ही माना, प्रत्युत उसे आद्या-प्रथमा-उत्तमा अलङ्कृति की संज्ञा भी प्रदान कर दी—

नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षाद्विवृण्वती।
स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालङ् कृतिर्यथा॥[२३]

यही नहीं, उन्होंने तो यहाँ तक कह दिया कि आन्वीक्षिकी आदि विद्यास्थानों में स्वभावाख्यान का ही साम्राज्य है और काव्यों में भी इसी की अभीप्सा रहती है— शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्यं काव्येष्वयेतदीप्सितम्।[२४] वक्रोक्ति के अभाव में, आचार्य भामह ने हेतु, सूक्ष्म और लेश की अलङ्कारता ही अमान्य कर दी थी, पर दण्डी ने इन्हें वाणी का उत्तम भूषण कहकर ज्ञापकहेतु के उदाहरण में—

गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।
इतीदमपि साध्वेव कालावस्थानिवेदने॥[२५]

"गतोऽस्तमर्क:" इत्यादि वर्णनों को उचित मान्यता दी। "गतोऽस्तमर्क:" की चारुता ध्वनिवाद में तो प्रथित ही है। दण्डी भी कहते हैं—इति लक्ष्याः प्रयोगेषु रम्या ज्ञापकहेतवः।[२६] समस्त विवेचनों से सुस्पष्ट है कि दण्डी को वक्रोक्ति मान्य है, एक निश्चित सीमा में। स्ववभावोक्ति, उनकी दृष्टि में, उत्तम अलङ्कार है। "गतोऽस्तमर्क:" जैसे कविकथन कालावस्था के निवेदक होने के कारण रम्य और उपादेय हैं। जैसा कि आगे प्रतिपादनीय है, कुन्तक स्वभाव को अलङ्कार नहीं मानते। इस दृष्टि से कुन्तक भामह के अधिक समीप हैं। हाँ, अलङ्कार के सामान्य स्वरूप के सन्दर्भ में कुन्तक दण्डी के मत को ही पल्लवित करते हैं, इसे हम आगे के विवेचनों में स्फुट करेंगे।

इसके पूर्व कि वक्रोक्ति सिद्धान्त के प्रवर्तक आचार्य कुन्तक की दृष्टि से वक्रोक्ति का सर्वाङ्ग विवेचन हो कालक्रम प्राप्त दो आचार्यों की दृष्टि पर भी विचार कर लेना समीचीन होगा। जैसा कि प्रारम्भ में ही सङ्केत कर दिया गया था आचार्य वामन वक्रोक्ति को अर्थालङ्कार मानते हैं और लक्षण करते हैं—सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः।[२७] वक्रोक्ति सादृश्याश्रित लक्षणा है। उपचरित शब्दों या उपचार के प्रयोग में इसका निबन्धन होता

है।[२८] कुन्तक की उपचार वक्रता वक्रोक्ति में वामनप्रोक्त वक्रोक्ति भी समाहित है। आचार्य रुद्रट ने वक्रोक्ति को एक शब्दालङ्कार मात्र मान लिया।

जहाँ वक्ता के अन्यथोक्त वचन को उत्तर देने वाला अन्यथा समझता है वहाँ प्रथम प्रकार की वक्रोक्ति होती है। अन्यथोक्त कथन का अन्यथा अर्थ यहाँ पदभङ्ग से प्राप्त होता है, इसलिये इसे श्लेषवक्रोक्ति कहते हैं।[२९] स्वरविशेष के कारण उच्चरित कथन से अर्थान्तर की प्रतीति ही में दूसरी वक्रोक्ति—काकुवक्रोक्ति होती है।[३०] रुद्रट प्रतिपादित वक्रोक्ति अलङ्कार के इस रूप को परवर्ती मम्मट, विश्वनाथ, हेमचन्द्र[३१] प्रभृति सभी आलङ्कारिकों ने स्वीकार कर लिया और भामह-दण्डी प्रतिपादित व्यापक वक्रोक्ति की सत्ता ही विलुप्त कर दी गयी। विशेष जैसे अलङ्कारों के सन्दर्भ में—उन्होंने अतिशय योग के लिये भामह की कारिका—सैषा सर्वैव वक्रोक्तिः[३२]—का स्मरण अवश्य किया, पर मात्र अलङ्कारों के सन्दर्भ में ही यह ग्राह्य हो सका।

आचार्य भामहप्रतिपादित काव्यव्यापिनी वक्रोक्ति को लेकर आचार्य कुन्तक[३३] ने संस्कृत काव्यशास्त्र में एक अभिनव प्रस्थान की प्रतिष्ठा कर डाली। कुन्तक ने दण्डी का भी विस्मरण नहीं किया और दण्डी प्रतिपादित अलङ्कार की व्यापक सीमा को, जैसा कि हम आगे देखेंगे, कुन्तक ने भी पूर्णतया स्वीकार किया। यह अलग बात है कि दण्डी द्वारा प्रतिपादित स्वभावोक्ति की अलङ्कारता को कुन्तक ने अङ्गीकार नहीं किया। कुन्तक का काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ वक्रोक्तिजीवित कई अर्थों में महत्त्वपूर्ण है। विषयों का जितना सुस्पष्ट विवेचन कुन्तक करते हैं, संस्कृत के अन्य आचार्यों की वहाँ तक प्रायः गति ही नहीं। अपवाद ध्वनिकार हो सकते हैं, पर सरल और सुबोध ललित पदावली की जो विन्यास परिपाटी कुन्तक में है, वह आनन्दवर्द्धन में कहाँ? अपने सिद्धान्तों के समर्थन में उदाहरणों के चुनाव में जितने सतर्क और सावधान कुन्तक हैं, दूसरा कोई नहीं। आधुनिक समीक्षाशास्त्रियों ने कुन्तक को—उनके सिद्धान्तों को, महान् आदर की दृष्टि से देखा है।[३४] पाश्चात्त्य काव्यसिद्धान्तों के आलोक में भी कुन्तक के विचारों को विद्वानों ने अधिक सुसंगत पाया है, तो अब हम कुन्तक विवेचित वक्रोक्ति सिद्धान्त की ओर चलें।[३५]

अलङ्कारसर्वस्व के टीकाकार समुद्रबन्ध ने संस्कृत काव्यशास्त्र में प्रचलित प्रमुख प्रस्थानों का अपनी दृष्टि से निरूपण किया है, जिसके अनुसार विशिष्ट शब्दार्थ ही काव्य कहे जाते हैं। शब्दार्थ की यह विशिष्टता प्रधानतः तीन रूप की होती है—धर्ममुख से, व्यापारमुख से और व्यङ्ग्य मुख से। व्यापारगत वैचित्र्य भी दो प्रकार से बनता है—भणिति की विच्छित्ति और भोग व्यापार से। इन पाँच प्रमुख पक्षों में प्रथम अलङ्कार पक्ष उद्भटादि आचार्यों का है। द्वितीय गुणपक्ष वामन का। तृतीय भणिति वैचित्र्यव्यापारपक्ष कुन्तक को मान्य है तो चतुर्थ भोगव्यापार भट्टनायक को और पंचम व्यङ्ग्यत्व आनन्दवर्धन को।[३६]

स्पष्ट है कि वक्रोक्तिकार मणितिभङ्गी को काव्य में विशेष स्थान देते हैं। भणितिभङ्गी ही वक्रोक्ति कही जाती है। कुन्तक वक्रोक्ति के आचार्य है। ठीक भी है,

क्योंकि वक्रोक्तिप्रधान काव्य होता ही है। "रत्नश्री" का यहाँ यह कहना सर्वथा युक्तियुत है—

वक्रोक्त्या किं न ख्याप्यते, वक्रोक्तिप्रधानत्वात्काव्यस्य।[३७]

यह कहना असङ्गत नहीं होगा कि काव्य की परिभाषा—"शब्दार्थौसहितौ काव्यम्" की सम्यक् व्याख्या कुन्तक ने ही प्रस्तुत की है। वक्रोक्ति सिद्धान्त, जिसे कुन्तक ने एक प्रस्थान का रूप दिया, व्यङ्ग्यार्थ तथा रस को नकारता नहीं, मार्ग (रीति) और गुण की अभिनव व्याख्या करता है, अलङ्कार की अलङ्कारता को सही ढंग से उपस्थित करता है, कवि-कौशल की पराकाष्ठा काव्य को यथार्थ के धरातल पर कसने का प्रयास करता है।

काव्य क्या है? कुन्तक के अनुसार—कविकर्म को ही काव्य कहा जाताहै—कवेः कर्म काव्यम्।[३८] काव्य में कविकर्म की कुशलता ही प्रधान होती है। कुन्तक काव्य में कविव्यापार, कविकर्म, कविकौशल की नैकधा चर्चा करते हैं।[३९] सामान्यतः कविकर्म या कविव्यापार काव्यक्रिया का ही नाम है। कविकौशलकाष्ठारूढपरम-रमणीय काव्य का परम प्रयोजन है सहृदयहृदयाह्लाद। सहृदयाह्लाद के अतिरिक्त आलौकिक चमत्कार का सम्पादन, धर्मादिसाधन, व्यवहार ज्ञान तथा काव्यामृत-रस से चेतश्चमत्कार[४०] का निर्माण भी काव्य का प्रमुख प्रयोजन है। शास्त्रप्रतिपाद्य चतुर्वर्ग से व्यतिरिक्त भी काव्य का जो अतिरिक्त परमार्थ है, वह सहृदयहृदय, काव्यमर्मज्ञ सत्पुरुष को ही प्रतिभासित होता है, जहाँ अर्थ की पर्यालोचना के बिना भी गीत के समान पानकास्वादवत् अनिर्वचनीय अन्तर सुख की अनुभूति होती है।[४१]

इस प्रकार कुन्तक की दृष्टि से काव्य का परमरहस्य पाने के लिये जहाँ पाठक का काव्यमर्मज्ञ होना आवश्यक है वहीं उस प्रकार की लोकोत्तर सम्पत्ति-निर्माण के लिये कवि का विदग्ध होना भी परमावश्यक है। संसार का कोई भी पदार्थ, सामान्यजन के समान कवि के चित्त में भी प्रथमतः अनगढ़ पाषाणशकलकल्प ही प्रतिभासित होता है। विदग्ध कवि का यह कर्तव्य बनता है कि वह पदार्थ को अपनी प्रतिभाजन्य वक्रता से मण्डित कर इस प्रकार के पदसमूह-वाक्यों में उसे सजाये कि अनगढ़पाषाणकल्प भी वह पदार्थ तरासी गयी मणि के समान सुन्दर बन जाय, तद्विद् को परमानन्द मिल जाय।[४२] एक ही वस्तुवर्णन में एक सावधान और असावधान कवि की रचना में महान् अन्तर पाया जाता है।

काव्यक्रिया—कविकर्म की सार्थकता सुन्दर शब्दार्थमय काव्य की निर्मिति में है। भामह के समान कुन्तक ने भी शब्दार्थ के सहभाव-साहित्य को काव्य माना और जो लक्षण प्रस्तुत किया—

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि॥[४३]

इसमें काव्यस्वरूप, कवि-व्यापार और तज्जन्य काव्यालङ्कारवक्रता, काव्य का अधिकारी काव्यमर्मज्ञ, काव्य प्रयोजन-आह्लाद समग्र समाहित है। तो कुन्तक मानते हैं कि तद्विद् आह्लादकारी, वक्रकविव्यापारशाली रचना में व्यवस्थित सहित शब्दार्थ ही काव्य है।

प्रश्न हो सकता है शब्दार्थ का सहभाव-साहित्य तो प्रसिद्ध ही है, फिर भामह के काव्यलक्षण—शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्—से कुन्तक की इस परिभाषा में वैशिष्ट्य क्या है? उत्तर है—कुन्तक की अनवद्य व्याख्या।[४४] इसे ठीक-ठीक समझने के लिये काव्य सम्बन्धी कुन्तकप्रोक्त कारिकाओं वृत्तियों और उदाहरणों का सम्यक् परिशीलन अपेक्षित है। कुछ लोग कविकौशलकल्पित कमनीयताविशिष्ट शब्द को काव्य मानते हैं तो इतर रचना-वैचित्र्य चमत्कारकारी अर्थमात्र को, क्तिु कुन्तक इस मत के सर्वथा विरुद्ध हैं। आपका स्पष्ट कथन है कि शब्दार्थ-साहित्य का अर्थ ही है तैल के प्रति प्रतितिल की भाँति काव्य के प्रति शब्द और अर्थ दोनों की सहभागिता।[४५] यही कारण है, अनणुरणन्मणिमेखलम्—आदि उदाहरणों में वर्णसावर्ण्यरम्यता में वह काव्यत्व नहीं स्वीकारते, क्योंकि ऐसे प्रयोगों में तो अनौचित्य भी सहज ही प्राप्त है, और तो और यहाँ अर्थ का कोई चमत्कार नहीं है। इसलिये काव्य में शब्द और अर्थ की अवस्थिति समान गुणशाली परस्परशोभाधायक सङ्गत दो मित्रों के समान होनी चाहिए।[४६] जिनमें परस्परस्पर्द्धित्वधाव विद्यमान रहता है। यह स्पर्धिता शब्द की शब्दान्तर से अर्थ की अर्थान्तर से और फिर शब्द और अर्थ की परस्पर में अपेक्षित है।[४७] प्राय: देखा जाता है समर्थ वाचक के अभाव में अर्थ अपने आप में मनोहारी होने पर भी मृत्कल्प प्रतीत होता है, वाक्योपयोगी अर्थ के अभाव में शब्द भी वाक्य का व्याधिभूत प्रतीत होता है।[४८] सामान्यत: अर्थ के प्रतिपादक कई शब्द होते हैं, पर अभीष्ट सामान्य या विशेष अर्थ के प्रतिपादक शब्द के चयन में समर्थ कवि की ही प्रतिभा प्रसन्न हो पाती है। ऐसा अर्थ जिससे वर्णनीय वस्तु के स्वभाव की महत्ता में अपूर्वता आ जाय, रसका परिपोष हो और सहृदयहृदयाह्लाद सम्पन्न हो, बड़ी कठिनाई से मिल पाता है। कुन्तक स्पष्ट करते हैं कि कविविवक्षित विशेष के अभिधान की क्षमता ही वाचकता की कसौटी है—कविविवक्षितविशेषाभिधानक्षमत्वमेव वाचकत्वलक्षणम्।[४९] सामान्यत: द्योतक और व्यंजक शब्द भी अर्थप्रतीति कराते हैं। इसलिये कुन्तक द्योतक और व्यंजक शब्दों को भी उपचार से वाचक ही मानते हैं।[५०] व्यक्त है, कुन्तक की दृष्टि में द्योत्य और व्यङ्ग्य अर्थ भी वाच्यार्थ की ही कोटि में आयेंगे। फलत: वक्रोक्तिमार्ग में शब्दार्थसाहित्य का मर्म अपूर्व ही है—अस्मिन् अलौकिके काव्यमार्गे एतयो: परमार्थ: किमप्यपूर्वम्।[५१] "द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयताम्" इत्यादि कुमारसंभव, "तामभ्यगच्छद्रुदितानुसारी" इत्यादि रघुवंश तथा "भतुर्मित्रं प्रियमविधवे" इत्यादि मेघदूत आदि के उदाहरणों में वक्रोक्तिकार ने वाच्य के अतिरिक्त व्यङ्ग्यार्थ की रमणीयता को सतर्क-सविस्तार प्रदर्शित कर काव्य-लक्षण में शब्द और अर्थ के साहित्य की इतिकर्तव्यता मानी है।[५२] संक्षेप में कुन्तक की दृष्टि

में शब्द और अर्थ की अन्यूनानतिरिक्तत्वभाव से अवस्थिति ही उनका साहित्य किं वा काव्य है जिसमें मार्गानुकूल सुन्दर माधुर्य आदि गुण विजृम्भित होते हैं, वक्रतातिशयसंवलित अलङ्कार का विन्यास होता है, वृत्ति और औचित्य से सरस रसों का परिपोष होता है, तद्विदानन्दसुन्दरशब्दार्थ की यथाविभव परस्पर स्पर्धा विराजती है और गीत के समान अर्थ की पर्यालोचना के बिना भी पानकास्वादवत् अद्‌भुत आनन्द की सर्जना होती है। कुन्तक को ऐसा लोकोत्तर काव्य अभिप्रेत है।[५३] सुखद आश्चर्य का विषय है कि कुन्तक के काव्यविषयक उपर्युक्त विचारों का पाश्चात्त्य समीक्षकों कार्वे, ब्रोवेल, रेड, वेली प्रभृति के विचारों से अद्‌भुत साम्य है।[५४] "शब्द स्वयं में न काव्य है न अकाव्य, कवि की कल्पनाशक्ति से ही उसे काव्यत्वपद प्राप्त होता है" लॉस के ये विचार कुन्तक के इन विचारों के समतुल्य हैं कि—सर्वत्र कविप्रतिभा प्रौढिरेव प्राधान्येनावतिष्ठति।[५५] यहाँ एक तथ्य को ध्यान में रखना होगा कि काव्यसम्बन्धी कुन्तक के उपर्युक्त विचार सर्वथा नवीन नहीं हैं। ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन[५६] प्रभृति ने सहृदयहृदयानन्ददायी शब्दार्थ को नैकधा काव्य की संज्ञा प्रदान की ही थी, कुन्तक की विशेषता उसके अभिनव व्याख्यान तथा पाठक के सामान्य धरातल पर उसे उपस्थित करने में है। कुन्तक ने सविस्तार, सव्याख्य सिद्ध किया—शब्दार्थ सहभाव काव्य है। सभी शब्दार्थ काव्य होंगे? नहीं, वे शब्दार्थ काव्य कहे जायेंगे जो बन्ध-रचना में व्यवस्थित होंगे। बन्ध के दो विशेषण (का० ७) दिये गये हैं—१. बन्ध-रचना को वक्रकविव्यापारशाली होना चाहिये तथा २. उसे तद्विदाह्लादकारी होना चाहिये। तो वक्रता क्या है? कुन्तक ने इस प्रश्न का उत्तर निम्न कारिका में दिया है, जिसमें अलङ्कार-अलङ्कार्य का निरूपण तो हुआ ही है, वक्रोक्ति का स्वरूप परिमार्जित है—

उभावेतावलङ्कार्यौ तयोः पुनरलङ्कृतिः।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरिष्यते॥[५७]

व्याकरणादि शास्त्रप्रसिद्ध शब्द-अर्थ से व्यतिरिक्त पूर्व प्रकार से प्रतिपादित विशिष्ट शब्द और अर्थ दोनों ही अलङ्कार्य हैं।[५८] इन दोनों की अलङ्कृति एक है—वक्रोक्ति। वैदग्ध्य-भङ्गीभणिति ही वक्रोक्ति है। भङ्गी, शोभा, विच्छित्ति, वक्रता, सौन्दर्य[५९] ये सभी शब्द संस्कृतकाव्यशास्त्र में प्रायः समान अर्थ में ही प्रयुक्त हैं। कविकर्मकौशलरूप विदग्धतासमन्वित भङ्गी-विच्छित्तिपूर्वक अभिधान-अभिधामुखेन प्रतिपादन ही वक्रोक्ति है। उपर्युक्त कारिका तथा वृत्ति से कुन्तक ने तीन प्रकार वक्रोक्ति का लक्षण किया है—१. वैदग्ध्यभङ्गीभणितिः वक्रोक्तिः, २.[६०] वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा, ३. विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिः। वक्रोक्तिकार ने समग्र ग्रन्थ में इस तथ्य को अनेकधा रेखांकित किया है कि विचित्र प्रकार की अभिधा ही वक्रोक्ति है।[६१] विचित्र प्रकार है—प्रसिद्ध प्रस्थान से व्यतिरिक्त रूप में प्रतिपादन २ तो, यह वक्रोक्ति ही शब्दार्थ का अलङ्कार है। शब्दार्थ अलङ्कार्य है। अर्थात् दोनों का समुदायभूत काव्य

ही अलङ्कार्य है।[६२] उसका अलङ्कार वक्रोक्ति है। वक्रोक्ति भी काव्य से कोई पृथक् तत्त्व नहीं है, क्योंकि कुन्तक की दृष्टि से काव्य अलङ्कृत होता ही है, लोक की भाँति काव्य में अलङ्कार कहीं से लाकर जोड़े नहीं जाते[६३], केवल अपोद्धार बुद्धि से ही यह कहा जाता है कि यह शब्द-अर्थ काव्य है, यह उसका अलङ्कार है, क्योंकि अलङ्कारों की अभिव्यक्ति भी तो शब्दार्थमुखेन ही होती है। ध्यान देने की बात है कि जब हम काव्य के सन्दर्भ में अलङ्कार की चर्चा करते हैं तो वह वक्रोक्ति ही होती है और उससे गुणालङ्कार सभी का परिग्रहण होता है।

दण्डी ने स्वभावोक्ति की प्रभूत प्रशंसा की और उसे काव्य का उत्तम भूषण सिद्ध किया। भामह स्वभाव कथन को अलङ्कार मानने के पक्ष में नहीं थे, यह बात पहले कही जा चुकी है। कुन्तक यहाँ भामह के विचारों के समीप हैं। अभी प्रतिपादित किया गया कि काव्य का एकमात्र अलङ्कार है—वक्रोक्ति। किन्तु स्वभावोक्ति अलङ्कार क्यों नहीं? कुन्तक मानते हैं कि स्वभाव का अर्थ है पदार्थ-धर्म, वही काव्य का वर्ण्य-विषय है। वह अपने आप में स्वयं अलङ्करणीय है। उसे ही अलङ्कार मान लेने पर स्वक्रियाविरोध होगा। संसार का कोई भी विषय नि:स्वभाव नहीं होता। उसे अलङ्कार मान लेने पर दो स्थितियाँ बन सकती हैं—भूषणान्तर का योग होने पर स्वभाव और उस अलङ्कार का भेदावबोध प्रकट हो सकता है या नहीं भी हो सकता है। प्रथम स्थिति में संसृष्टि होगी द्वितीय में सङ्कर। अन्य अलङ्कारों का विषय ही नहीं मिलेगा।[६४] किन्तु वस्तु सत् यह है कि अलङ्कारों का निरन्तर विवेचन होता चला आ रहा है।

कुन्तक के उपर्युक्त विवेचन का परमार्थ मात्र इतना ही है कि सुकुमार सुन्दर वस्तु अलङ्कारानपेक्ष होती है, स्वभावतः जो सुन्दर है, रम्य है, उसमें आहार्य योग की क्या आवश्यकता? वाक्यवक्रता की व्याख्या के पूर्व प्रतिपाद्यवस्तु सौन्दर्य की चर्चा में कुन्तक ने स्पष्ट किया है कि पदार्थों की स्वाभाविक सुकुमारता के वर्णन प्रसङ्ग में वाच्यालङ्कारों का प्रचुर प्रयोग उतना उपयोगी नहीं होता, क्योंकि ऐसी स्थिति में, यह डर रहता है कि, उसकी सातिशयिता ही म्लान पड़ जाय। इस प्रकार के वर्णनों में कवि व्यङ्ग्य का सहारा लेता है। सहृदयहृदयाह्लादकारी काव्य का निर्माण यों ही तो होता नहीं। असुन्दरवस्तु में अलङ्कारों का योग अनुपयुक्त फलक पर चित्रालेखन के समान चमत्कारशून्य होता है। इसलिये कवि को अतिरमणीय स्वाभाविकधर्मसमन्वित, वस्तु का ही चयन करना चाहिए और औचित्यानुसार उसमें रूपकादि अलङ्कारों का समायोग करना चाहिए। पर, इसका ध्यान अवश्य रहे कि विवक्षितार्थ के स्वभाव सुन्दर होने पर उसमें प्रचुर अलङ्कार न जोड़ें जायँ, वैसा होने पर वस्तु की स्वाभाविक सुकुमारता तो चौपट होगी ही, रसादि का परिपोष भी नहीं हो पायेगा।[६५] सर्वाङ्गसुन्दर सर्वालङ्कार-अलङ्कार्य विलासिनी भी स्नान, व्रत, विरह, सुखादि में प्रचुर आभूषण नहीं सह पातीं।[६६] कुमारसम्भव के ''तां प्राङ्मुखीम्'' इत्यादि श्लोक को प्रस्तुत करते हुए कुन्तक ने देवी पार्वती की स्वभावसुकुमारमनोहरता को उपन्यस्त कर महाकवि कालिदास के कवि-

कौशल की सराहना की है। कुन्तक का निष्कृष्टार्थ यह है कि सहज सुकुमार सुन्दर वस्तु ही काव्य में वर्ण्यमान होता है, प्रतीत्यन्तरोत्पादक कोई भी अलङ्कार उसमें उपकारी नहीं होता है, विभावादि का सम्यक् सोद्देश्य संश्लेष न होने से रसाद्यपरिपोष प्रस्तुत की शोभा हानि ही करता है। प्रथम-प्रथम तरुणी का तारुण्यावतार हो, सुकुमार वसन्तादि समय का समुन्मेष हो, ऐसे वर्णनों में कविगण उनके प्रतिपादक वाक्यवक्रतारूप मामूली से अलङ्कारों का ही संयोग करते हैं। अतिशयशून्य धर्मयुक्त, विभूषित भी वस्तु पिशाचादि के समान उद्वेजक ही होती है।[६७] और सातिशय धर्मयुक्त स्वभावसुन्दर वस्तु स्वयमेव अलङ्कार्य होती है, भूषणान्तर असहिष्णु होती है, स्वयं में अलङ्कार होती है।

इस प्रकार कुन्तक स्वभावोक्ति का सर्वथा निरास नहीं करते। वाक्यवक्रता विवेचन के पूर्व उन्होंने भावों के दो स्वरूपों की चर्चा की है—१. चेतन और २. जड़।[६८] चेतन भाव के भी दो भेद होते हैं—प्रथम है—सुरासुर सिद्धविद्या- धरगन्धर्वप्रभृति तथा द्वितीय सिंहादिपशु-पक्ष्यादि गण। सुरादि-भाव प्रधान हैं, सिंहादि गौण। सुरासुर प्रभृति प्रधान चेतन भावों के निबन्धन में रत्यादि भावों का परिपोष होता है, शृङ्गारादिरसों की निष्पत्ति होती है।[६९] सिंहादि प्रभृति अप्रधान चेतना भावों के स्वजात्यनुसारी स्वभाव कथन प्रधानचेतन में भूयसा रसपोष करते हैं। रसोद्दीपन करते हैं।[७०] अप्रधान चेतन भावों के स्वभाव को प्राचीनों की स्वभावोक्ति अलङ्कृति और कुन्तक का उद्दीपन विभाव कहा जा सकता है। स्ववभावोक्ति-उदात्त—और रसवदाद्यलङ्कार का सम्यक् निरूपण रुय्यक के अलङ्कारसर्वस्य में भी अच्छी तरह विवृत है।[७१]

वक्रोक्तिस्वरूप तथा उसके प्रसङ्ग में स्वभावोक्ति की चर्चा की गयी। वक्रता के भेदों की चर्चा करने के पूर्व काव्यक्रिया के कारणभूत कविमार्ग का निरूपण आवश्यक है। कुन्तक के अनुसार कविप्रस्थान हेतु तीन मार्ग हैं, न दो, न चार। वे हैं—१. सुकुमार, २. विचित्र और ३. मध्यम।[७२] इस मार्ग-निरूपण के प्रसङ्ग में कुन्तक ने वामन और दण्डी के रीतिविषयक मतों का खण्डन भी किया है। वामन का अभिमत था कि रीति काव्य की आत्मा है। रीतियाँ तीन हैं—वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली। देशविशेष के नाम पर इनका वैदर्भी आदि अभिधान है। वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली। वैदर्भी समग्रगुणोपेत होने से उत्तम और ग्राह्य है। गौडी में कम गुण पाये जाते हैं, पाञ्चाली में भी अपेक्षाकृत कम गुण हैं अत: ये दोनों मध्यम और अधम हैं।[७३] दण्डी वैदर्भ और गौड दोनों मार्गों को स्वीकार कर चलते हैं। कुन्तक वामन के उत्तमाधममध्यम भेद और देशसमाख्या का स्पष्ट खण्डन करते हुए कहते हैं कि देशभेद के आधार रीतियों के भेद करने पर रीतियों की अनन्तता हो सकती है, क्योंकि देश अनन्त हैं। मातुलेय भगिनी विवाह के समान किसी भी काव्यक्रिया की विशिष्ट रीति को किसी भी देशविशेष से जोड़ा नहीं जा सकता। देश धर्म तो वृद्धव्यवहार-परम्परा पर चलता है किन्तु काव्यक्रिया शक्त्यादिकारणकलापसापेक्ष होती है। दाक्षिणात्य गीत-विषय-सुस्वरता-ध्वनि रमणीयता के समान रीतियों को देश

विशेष में बाँधने पर वह स्वाभाविकता नहीं मिल पायेगी। शक्ति के होने पर भी व्युत्पत्त्यादि आहार्य कारणों को प्रतिनियत देशविशेष में नियन्त्रित नहीं किया जा सकता, क्योंकि अमुक देश में अमुक प्रकार की व्युत्पत्ति है। ऐसा उस देश विशेष में पाया नहीं जाता। न अन्यत्र उसका अभाव ही देखा जाता है। रीतियों की उत्तमाधममध्यमता भी नहीं स्थापित की जा सकती। सुन्दर काव्य का प्रस्ताव आने पर तो वैदर्भी जैसा सौन्दर्य अन्य में नहीं मिल पायेगा। फिर अन्य रीतियों का उद्देश्य भी व्यर्थ हो जायेगा। वैदर्भी ही ग्राह्य है। यह भी नहीं कह सकते क्योंकि रीतियों का निबन्धन प्रकरण सापेक्ष होता है।[७४] इस प्रकार वामन के मत का खण्डन कर कुन्तक दण्डी के दो रीति मानने का भी विरोध करते हैं क्योंकि रीतियाँ कवि प्रतिभा पर अवलम्बित है और कवि प्रतिभा तीन ही प्रकार की होती है—सुकुमार विचित्र और उभयच्छायासंवलित मध्यम।

कवि स्वभाव भेद से काव्य प्रस्थान भेद होता है।[७५] सुकुमारस्वभाव के कवि में उसी प्रकार की सहज शक्ति तथा सुकुमार रमणीय व्युत्पत्ति होती है और वह उन दोनों के माध्यम सुकुमार मार्ग से अभ्यास तत्पर होता है। विचित्र मार्गानुसारी कवि में उसी के अनुरूप शक्ति और वैदग्ध्य-बन्धुर व्युत्पत्ति होती है, वह इन्हीं दोनों की वासना से वासित होता है। फलत: इन्हीं मार्गों से अभ्यास तत्पर होता है।[७६] इन दोनों की सुन्दरछाया से शवलित कवि में वैसी ही उभयात्मक शक्ति और व्युत्पत्ति होती है। ऐसा कवि उभयच्छायापेशल मार्ग से अभ्यासतत्पर होता है।[७७] इस प्रकार यद्यपि कवि-स्वभाव भेद से मार्गों के अनन्त भेद हो सकते हैं।[७८] पर सामान्यत: उपर्युक्त तीन ही प्रकार परिगृहीत हैं तीनों ही रमणीय हैं। अपने अपने विषय में तीनों ही रमणीय और कोई किसी से कम या हीन नहीं है। इस प्रकार प्रकारान्तर से कुन्तक ने काव्यहेतु के लिये शक्ति, व्युत्पत्ति और अध्यास का भी समर्थन किया है। एक तथ्य यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि कुन्तक के त्रिविध मार्गों को अन्य आचार्यो की त्रिप्रकारा रीतियों का प्रर्याय नहीं मानना चाहिए, ऐसी भूल विद्वानों ने प्राय: की है।[७९] कुन्तक के मार्ग रीतियों के अतिरिक्त कुछ और भी हैं।

कुन्तक का सुकुमार मार्ग कवि शक्ति पर अवलम्बित है प्राक्तनाद्यतन संस्कार के परिपाक से प्रौढ़ प्रतिभा[८०] वह अपूर्व कविशक्ति है, जिसमें नूतनाङ्कुर न्याय से नवनवार्थ निर्भर शब्द स्वयं कवि की वाणी में चले आते हैं। यहाँ सब कुछ अयत्नज और अनाहार्य निबन्धित होता है। समग्र वर्णना रसमयी होती है। अयत्नज मनोहारी तथा स्वल्प अलङ्कारों का परिग्रह किया जाता है। भावों की स्वभाव सुकुमारता ही प्रधान होती है। उससे आहार्य कोशल तिरस्कृत होता है। पूर्वोक्त दो प्रकार के चेतन स्वभाव सुर, गन्धर्व तथा शकुनितरुलतादि के उपनिबन्धन द्वारा कवि सहृदयाह्लादकारी उपनिबन्धन में समर्थ होता है। इस मार्ग में कविकौशल की इयत्ता को रेखांकित करना बड़ा कठिन होता है, केवल आनन्द लिया जा सकता है। विधाता की सृष्टि के अतिशय से सुन्दर इस मार्ग का कवि भ्रमर के समान रसव्यसनी होता है।

इसकी अतिरिक्त प्रसन्न वस्तु में कुसुम समान आभिजात्य विराजता है। कालिदास जैसे कवि ही इस मार्ग पर चलकर यशोगामी बनते हैं।[८१] कुन्तक ने कारिकावृत्ति और उदाहरणों द्वारा सकुमार मार्ग की जो विवेचना की है तथा विधि-वैदग्ध्यनिष्पन्न निर्माणातिशयोपम:-कारिका की वृत्ति में रमणीय-रमणी लावणय आदि का प्रयोग कर जो उपमा प्रस्तुत की है वह ध्वनिकार के लावण्यमिवाङ्गनासु तथा "नातिनिर्वहणैषिता" आदि को अभिव्यक्त करता है। कुन्तक का सुकुमार मार्ग वस्तुतः ध्वनि मार्ग ही है, जहाँ रस ही प्रधान है। इसकी पुष्टि इसी मार्ग के आभिजात्य गुण की वृत्ति में निहित है। सुकुमार मार्ग के चार गुण हैं—माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य। प्रथम में असमस्त पद पाये जाते हैं। अनायास अभिप्रायप्रकाशन, सद्यः अर्थसमर्पण तथा रसाभिव्यक्ति और वक्रोक्ति प्रसाद गुण की विशेषता है। शब्दार्थ की सुकुमारता के अनुरूप पदों का सन्निवेश, वर्णविन्यास विच्छित्ति लावण्य गुण है। कर्ण सुखद हृदयस्पर्शी स्वाभाविक आहार्य मसृणता अभिजात्य गुण का विषय है।[८२] लावण्य गुण को कुन्तक बन्धसौन्दर्य मानते हैं। ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने प्रतीयमान अर्थ को ललनालावण्यप्रख्य[८३] कहा था। कुन्तक इसका तात्पर्य मात्र इतना ही लेते हैं कि वाच्यवाचकभाव से व्यतिरिक्त रूप में प्रतीत प्रतीयमान अर्थ सहृदयहृदयमात्र गम्य है। किन्तु बन्ध सौन्दर्य लावण्य तो पद-पदार्थ का ज्ञान न रखनेवालों को भी श्रवण मात्र से हो जाया करता है। वैसे ही जैसे रमणी का लावण्य तो सकललोकलोचनगोचर है। कामिनी का अनिर्वचनीय आनन्द उसके उपयुक्त उपभोक्ता नायक को ही मिलता है। प्रतीयमान का बोध तदुपयुक्त सहृदयों को ही।[८४] प्रतीयमान अर्थ के विषय में ऐसे ही विचार अभिनवगुप्त के भी हैं। ध्वनिकार का ध्वनि को ललनालावण्यप्रख्य बताना उपमामात्र देना था, न कि लावण्य को अगोचर बताना जैसा कि कुन्तक कहना चाह रहे हैं। प्रकारान्तर से कुन्तक ने ध्वनि को सुकुमार मार्ग का ही विषय बनाया है।

कुन्तक का विचित्र मार्ग अलङ्कार या अलङ्कृत शैली है। प्रतिभा के प्रथम प्रकाश में शब्द और अर्थ की वक्रता इस मार्ग का विषय है। कवि एक अलङ्कार से सन्तुष्ट न होकर वस्तु में अन्य अलङ्कारों का सन्निवेश करता है। भास्वरभूषणों से कामिनी-शरीर के समान स्वयं प्रकाश अलङ्कारों से अलङ्कार्य प्रकाशित हो उठता है। पुरातन भी वस्तु कवि की उक्तिमात्र की विचित्रता से अपनी पराकाष्ठा तक पहुँच जाती है। कवि की प्रतिभा के कारण अन्यथा भी वस्तु यथारुचि अन्यथा प्रतीत होती है। वाच्यवाचकवृत्तिशून्य वाक्यार्थ की प्रतीयमानता यहाँ भी विराजती है। यहाँ स्वभाव सरसाकूत भावों का कमनीयवैचित्र्यमण्डित अपूर्व निबन्धन देखा जाता है। वक्रोक्ति का वैचित्र्य ही इस मार्ग का जीवन है। अति दुर्गम विदग्धकविमात्रगम्य यह विचित्र मार्ग असि-धारा तुल्य है।[८५] इस मार्ग का कवि व्युत्पन्न और कल्पनाप्रौढ होता है।[८६] भणिति-वैचित्र्य मात्र ही इस मार्ग का काव्यार्थ है। भणितिवैचित्र्य के सहस्रों प्रकार हो सकते हैं।[८७] प्रतीयमान अर्थ यहाँ भी अपनी समग्र शोभा से शोभित होता है। पर प्रथम मार्ग की प्रतीयमानता ध्वनिरसविषयक है और इस मार्ग की प्रतीयमानता अलङ्कारपरक इस तथ्य

को पहचानने में विद्वानों ने भूल की है। प्रथम मार्ग के चारों गुण इस मार्ग में भी पाये जाते हैं, किन्तु उनके स्वरूप में अन्तर है। विचित्रमार्ग के माधुर्यगुण में पदों में शिथिलता का अभाव होता है। ओज का किञ्चित् स्पर्श करती हुई असमस्त पदरचना प्रसाद गुण का स्वरूप है। कुन्तक का अभिमत है कि सुकुमार मार्ग के प्रसाद गुण में ओजो गुण पूर्णत: विराजमान रहता है, पर विचित्र मार्ग में ओज का किञ्चित् स्पर्श मात्र होता है। इस प्रसाद गुण का एक सौन्दर्य यह भी है, एक ही वाक्य में अर्थसमर्थक दूसरे वाक्य भी जुड़े रहते हैं। अलुप्तविसर्गान्त संयोगपूर्वलघुसमन्वित परस्पर संश्लिष्ट पद-रचना लावण्यगुण कही जाती है। प्रौढ़िनिर्मित न अत्यन्तकोमलकान्ति न अत्यन्त कठोर, मनोहर पदावली आभिजात्य गुण का वैशिष्ट्य है।[८८] प्रथममार्ग के चारों गुणों की यहाँ उपस्थिति कुन्तक की अपनी प्रौढि है। अन्तर मात्र यह है कि प्रथम मार्ग के गुण अनाहार्य कौशलजनित होते हैं तो विचित्र मार्ग के गुण आहार्यकौशलजन्य।[८९]

उपर्युक्त मार्गद्वितीयकी मिली-जुली सहज-आहार्य शोभामण्डित अतिरिक्त अपूर्व शोभापरिपुष्ट मध्यमवृत्तिसमन्वित मार्ग को वक्रोक्तिकार मध्यमार्ग कहते हैं। यहाँ दोनों मार्गों की सम्पत्ति परस्पर स्पर्धापूर्वक विद्यमान रहती है। कान्ति और वैचित्र्यरंजित इस मार्ग का कवि कमनीय वस्तुव्यसनी आरोचकी कोटि का होता है। मध्यम मार्ग में पूर्वोक्त चारों गुणों की अपने-अपने मार्गों की विहित उभयात्मक विक्षिप्ति पायी जाती है।

कुन्तक ने उपर्युक्त तीनों मार्गों के चार-चार विशेष गुणों के अतिरिक्त दो सामान्य गुणों की भी चर्चा की है। प्रथम है औचित्य और द्वितीय है सौभाग्य। स्वभाव का सहज झटिति पोषण तथा वक्ता या प्रमाता के स्वभाव से वाच्य का संवरण औचित्य गुण है। उचिताभिधान ही इसका प्राण है।[९०] औचित्य का समर्थन ध्वनिकार ने भी किया है। वक्रोक्ति की समग्र विधाओं से युक्त कविप्रतिभा की परिणति काव्य का गुण ही सौभाग्य गुण है। तीनों मार्गों में विराजमान इन दो गुणों से पद वाक्य, प्रबन्ध सभी में सामान्य रूप से शोभा-सृष्टि होती है।[९१] कुन्तक के अनुसार प्रथम मार्ग के कवि कालिदास और सर्वसेन प्रभृति हैं। बाण, भवभूति तथा राजशेखर आदि कवि द्वितीय मार्ग से अपनी काव्ययात्रा करते हैं। मातृगुप्त तथा मायुराज जैसे कवि तृतीय मार्ग के पथिक हैं। ध्यान देने योग्य है कि भारवि, माघ अलङ्कृत शैली के रचनाकार माने जाते हैं। पर कुन्तक ने उनको इन मार्गों का योग्य पथिक नहीं माना। यह बात और है कि उनकी रचनाओं से उद्धरण वह अवश्य लेते हैं। इस प्रकार कुन्तक का मार्ग विवेचन मात्र रीति निरूपण न होकर रीतियों से पर्याप्त विलक्षण है। तुलनात्मक दृष्टि से ध्वनिकारनिरूपित वृत्तिरीति कुन्तक के अधिक समीप है।[९२] पर प्राचीनों की रीति कुन्तक के मार्ग से पर्याप्त दूर है।

कवियों की काव्ययात्रा के निमित्तभूत मार्गों का निरूपण करने के अनन्तर कुन्तक निरूपित षट् प्रकार की वक्रता का विवेचन आवश्यक है। कवि-व्यापार, कवि-कर्म, कवि-कौशल वक्र होता ही है, वक्राभिधान अभिधामुखेन सौन्दर्य सम्पादन

ही वक्रोक्ति है। कुन्तक ने वर्णविन्यासवक्रता, पदपूर्वार्द्धवक्रता, पदपरार्धवक्रता, वाक्यवक्रता, प्रकरणवक्रता और प्रबन्धवक्रता छः प्रकार की वक्रताओं से समग्र काव्यकौशल को समाहित किया है। इनका निरूपण वक्रोक्तिजीवित के प्रथम तथा अन्य तीन उन्मेषों में विजृम्भित है। स्वल्पान्तर से एक दो अनेक वर्णों की आवृत्ति, वर्णान्तयोगस्पर्शी की पुनरुक्ति, त, ल, न, आदि वर्णों की द्विरुक्ति रेफ आदि संयुक्त वर्णों की आवृत्ति स्वरों के असारूप्य से युक्त अव्यवहित वर्णावृत्ति यमकाभास तथा यमक में वर्ण-विन्यास वक्रता की शोभा पायी जाती है।[९३] कुन्तक पेशल वर्णों से भूषित नातिनिर्वाहनिर्बन्ध युक्त वर्णावृत्ति में वक्रता के इस प्रभेद की इतिश्री मानते हैं, जिसमें पूर्वावृत्तिकवर्ण का परित्याग तथा नूतनवर्णावृत्ति के परिग्रह का आग्रह है। ग्रन्थकार स्पष्ट शब्दों में इसे प्राचीनों का वृत्तिवैचित्र्य अनुप्रास और यमक स्वीकार करता है।—

वर्णविन्यास वक्रतानाम् वाचकालङ्कृतिः।[९४]

पदपूर्वार्धवक्रता में पद के पूर्वार्ध प्रातिपदिक और धातुरूप पद की वक्रता निबन्धित होती है। पद-पूर्वार्धवक्रता के प्रातिपदिक रूप भेद को कुन्तक ने रूढि, पर्याय, उपचार, विशेषण, संवृति, वृत्ति, लिङ्ग भेद से अनेक प्रकार का स्वीकार किया है। इन भेदों के भी अनेक अवान्तर भेदों को सोदाहरण वक्रोक्तिकार ने प्रदर्शित किये हैं जिनमें ध्वनि के अभिधामूल तथा व्यंजनामूल भेदों को समाहित किया है। ध्वनिकार के ध्वन्यालोक से पर्याप्त उदाहरण लेकर ध्वनि के तत्तत् भेदों में वक्रोक्ति के तत्तत् रूप दिखायें गये हैं। रूढ़िवक्रता का उदाहरण स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो आदि में राम शब्द अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि का उदाहरण है।[९५] कुन्तक स्पष्ट कहते हैं—

एवंविधे विषये शब्दानां वाचकत्वेन न व्यापारः अपितु वस्त्वन्तर-प्रतीतिकारित्वमात्रेणेति नातिप्रतन्यते, यस्मात् ध्वनिकारेणात्रव्यङ्ग्यव्यञ्जकभावोऽत्रसुतरां समर्थितः।[९६] रूढ़ि-वैचित्र्य वक्रता दो प्रकार की होती है—कविनिरूपिता अथवा कविनिबद्धववक्तृपौढोक्ति से। 'रामो ऽसौ भुवनेषु' आदि रूढिवक्रता के उदाहरण ध्वन्यालोक, काव्यप्रकाश आदि में सामान्य रूप से पाये जाते हैं।

पर्यायवक्रता में भीअभिधेय से भिन्न अभिधेयान्तरतम अन्य अर्थ की सुन्दरता में भी ध्वनि सुलभ है।[९७] कुन्तक ने इसके भी अवान्तर भेदों को सोदाहरण प्रदर्शित किया है जहाँ लक्षणामूलध्वनि तथा शब्दशक्तिमूल पदध्वनिप्राप्त है।[९८] पर्यायवक्रता में अलङ्कारों से शोभान्तर का आधान तथा अलङ्कारों का भी शोभान्तर आधान निहित है। कुन्तक यहाँ भी प्रकारान्तर से ध्वनिभेदों को ही समेटते हैं।[९९] रूढिवक्रता में रूढिवाच्य अर्थों से उत्कर्ष आता है तो पर्यायवक्रता में पर्यायपदों के प्रयोग से। रूढि और पर्याय पदों के असम्भाव्य धर्मगर्भित होने के कारण वाच्य से व्यतिरिक्त अवान्तर शोभा की सृष्टि यहाँ सहज सम्भाव्य है।

मूर्त-अमूर्त द्रवत्य-घनत्व, चेतन-अचेतन आदि पदार्थों के साधारण धर्मों में किंचित् साम्य के आधार पर विचार से जहाँ प्रस्तुत पर अप्रस्तुत आदि अभिप्रेत अर्थ

समारोपित किये जाते हैं, वहाँ उपचारवक्रता होती है।[१००] यहाँ रूपक आदि अलङ्कारों की सरस सुषमा निबद्ध होती है, जिसके मूल में लक्षणा निहित है। उपचार वक्रता के अनेक भेदों में प्रथम भेद के उदाहरण में प्रस्तुत "गगनम् च मत्तमेघम्"[१०१] आदि में ध्वनिकार अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि स्वीकार करते हैं। "स्निग्धश्यामल" आदि रूढिवक्रता के पूर्वप्रदर्शित उदाहरण में भी कुन्तक स्निग्ध पद को उपचार वक्र मानते हैं। यहाँ भी ध्वनि है। अप्रस्तुतप्रशंसा आदि अलङ्कारों में उपचार की सत्ता अङ्गीकार कर कुन्तक ने लगभग सभी ध्वनि-प्रपंचों को उपचार वक्रता आदि में ही समाहित करने का प्रयास किया है।[१०२]

पदपूर्वार्धवक्रता का विशेषणवक्रता प्रकार क्रिया अथवा कारक के विशेषण माहात्म्य में निबन्धित होता है।[१०३] स्वभाव और रस का परिपोष तथा रसस्वभावानुकुल अलङ्कारों का निबन्धन विशेषणवक्रता की विशेषता है।[१०४] वैचित्र्यविवक्षा से जहाँ सर्वनामआदि किन्हीं पदों से वस्तुगोपन कर अपूर्व अर्थों का संयोग किया जाता है वहाँ संवृतिवक्रता होती है। संवृति से अथवा संवृत्ति प्रधानवक्रता होने के कारण इसको यह नाम दिया गया है।[१०५] प्रतीयमानता यहाँ भी द्रष्टव्य है। समास, तद्धित आदि वृत्तियों से विहित वक्रता में वृत्तिवक्रता का सौन्दर्य निहित है। समान अधिकरण में वाच्य से पृथक् अन्य लिङ्गों के विनियोजन में लिङ्गवैचित्र्य वक्रता होती है। स्त्री शब्द नाम से ही पेशल होता है। परिणामतः कविगण अन्य लिङ्गों के वाच्य होने पर भी प्रायः स्त्रीलिङ्गों का ही प्रयोग करते देखे जाते हैं। इस प्रकार विशिष्ट लिङ्गों के प्रयोग में भी अपूर्व छाया की सृष्टि होती है।[१०६] अभिधानप्रकार होने पर भी कुन्तकप्रोक्त उपर्युक्त सभी वक्रताओं में प्रतीयमानछाया विद्यमान रहती है।

पद-पूर्वार्ध वक्रता के धातुरूप वैचित्र्य को भी कुन्तक ने कई भेदोपभदों में विभक्त किया है। प्रथमतः क्रिया-वैचित्र्य वक्रता के पाँच प्रकार गिनाये हैं। क्रिया के प्रति कर्ता की अत्यन्त अन्तरङ्गता, कर्मान्तर की विचित्रता, क्रिया के अपने विशेषण का वैचित्र्य, सादृश्य आदि समन्वय को लेकर धर्मान्तराध्यारोप पूर्वक क्रिया के उपचार का सौन्दर्य और कर्म आदि कारकों की संवृत्ति रूप वक्राभिधानता में क्रियावैचित्र्यवक्रता समुल्लसित होती है। ध्वनिकार तथा काव्यप्रकाशकार द्वारा ध्वनिप्रसङ्ग में उदाहृत कतिपय उदाहरण यहाँ ध्वनि से सीधे सम्बन्ध रखते हैं तो कतिपय में क्रियोत्प्रेक्षादि के सौन्दर्य द्रष्टव्य हैं।[१०७] पदपूर्वार्द्धवक्रता की धातुवक्रता से ही सम्बन्धित भेदों में काल, कारक, संख्या और पुरुष भेदों का भी निरूपण किया गया है। विवक्षित काल कारक आदि से भिन्न काल आदि का निबन्धन करने से उत्पन्न अतिरिक्त छाया में इन वक्रताओं को आँका जाता है।

पदपरार्धवक्रता में सुप् तिङ् आदि प्रत्ययजनित[१०८] रमणीयता परिप्रेक्षित होती है। विहित प्रत्ययों से भिन्न प्रत्ययों के संयोग में समुत्पन्न वक्रोक्तियों में प्रत्ययवक्रता

निहित है। जिसमें प्रतीयमान सौन्दर्य भी समुल्लसित होता है। प्रकृतिप्रत्ययव्युत्पन्न पदों की वक्रता के अनन्तर कुन्तक ने अव्युत्पन्न उपसर्ग और निपात पदों की वक्रता का भी विचार किया है।[१०९] यहाँ भी ध्वनि निर्माण को ही दृष्टि में रखा गया है। उपर्युक्त सभी वक्रतायें अपना अलग सौन्दर्य तो रखती हीं हैं, एक-दूसरे की परस्परउपकारक होकर चित्रकान्तिवत्[११०] नाना रमणीयताओं की उत्पत्ति भी करती हैं। कुन्तक की दृष्टि से इन सभी का फल है—शृङ्गार आदि रसों की व्यंजना, उक्ति-वैचित्र्य की सिद्धि, कवि कौशल की कमनीयता की विवृति, सन्निवेश सौन्दर्य का समुदय, तद्विद् को आनन्दित करना और काव्यक्रिया की समस्त सम्पत्ति का सृजन।[१११]

अभिधान के विविध प्रकार की अलङ्कार हैं, जिनमें विक्षित्ति-वैचित्र्य लोकोत्तराभिधान, अलौकिकच्छायातिशय, भणितभङ्गी का योग पाया जाता है। कवि-प्रतिभाका आनन्त्य होने से अलङ्कारों की संख्या भी भूयसी हो सकती है। समस्त अलङ्कार वर्ग वाक्य-वक्रता का विषय है।[११२] वर्णनीय वस्तु ही अलङ्कारों से विभूष्य होती है, उसकी सहज-रमणीयता की चर्चा मैंने स्वभावोक्ति के सम्बन्ध में पर्याप्त रूप में कर दी है। वक्रोक्तिकार के अनुसार स्वभावसुकुमार वस्तु के वर्णन प्रसङ्ग में वाच्यालङ्कारों का प्रचुर प्रयोग अग्राहय है किन्तु रचना में नानावैचित्र्य का योग करना हो तो रूपकादि अलङ्कारों का योग अवश्य अपेक्षित है।[११३] हाँ, स्वाभाविक सुकुमार वस्तु की वर्णना में यदि कदाचित् अलङ्कार का प्रयोग किया भी जाय तो उसे वर्णनीयवस्तु की सुकुमारता को और अधिक उद्रिक्त करना चाहिए। सातिशायी सुन्दर वस्तु अलङ्कार्य है। अलङ्कार उसका आभूषण। निश्चय ही कुन्तकोक्त यह वस्तुवक्रता रस का विषय है। वर्णनीय वस्तु की वक्रता का एक दूसरा रूप भी है जिसमें शक्ति और व्युत्पत्ति के परिपाक से प्रौढ सहज और आहार्य कविकौशल की लोकोत्तरता देखी जाती है। कविकौशल का ही परिणाम है, अविद्यमान भी पदार्थ रचना में इस प्रकार उपन्यस्त किये जाते हैं कि वे अपनी सम्पूर्णसत्ता से रमणीयता का आधान करते हैं। पदार्थ की आहार्यवक्रता ही अलङ्कारों का विषय है, जो सहजतया रस का उद्दीपन करती है।[११४]

वाक्यवक्रता का समग्र साम्राज्य कविकौशल पर टिका है, ठीक वैसे ही जैसे चित्रकला का समग्र सौन्दर्य चित्रकार की निपुणता पर। रस, वस्तु की रमणीयता भी कविकौशल पर निर्भर करती है पर अलङ्कार की अलङ्कारता तो कवि की कल्पना प्रवणता पर ही आश्रित है क्योंकि अलङ्कारों का सबसे बड़ा कार्य है विभावादि को रसनीयता की चरम सीमा तक पहुँचाकर रसस्वरूपता को प्राप्त कराना। इसके लिये कवि भावों के चेतन तथा जडरूप स्वभावों का चित्रण करता है। चेतन आलम्बन होता है तो जड़ उद्दीपन। चेतनभावों के पशु-पक्ष्यादि के स्वभाव वर्णनों से भी रस का परम परिपोष होता है। इस प्रकार कुन्तक की दृष्टि से अलङ्कार जहाँ अभिधानप्रकार हैं वहीं वे रस परायण भी है। वाक्य-वक्रता मात्र वाच्यालङ्कारों का ही नहीं प्रतीयमान

अलङ्कारों का भी विषय है। यही कारण है कि कुन्तक के अलङ्कारों के लक्षण में प्राचीन आलङ्कारिकों के लक्षणों से विलक्षणता है, साथ ही वक्रत्वविहीन कतिपय अलङ्कारों का उनके द्वारा तिरस्कार भी किया गया है।

रस अलङ्कार्य है, ध्वनिवादियों के इस मत से कुन्तक को कोई आपत्ति नहीं है क्योंकि काव्य कोई भी हो, रसवत्ता उसमें रहती ही है।[११५] ध्वनिवाद से इस नय में अन्तर मात्र इतना ही है कि वक्रोक्ति सिद्धान्त में रसभावादि सभी वक्रोक्ति के अंग हैं। वर्णनीय वस्तु की सहज सुकुमारता, प्रकरण तथा प्रबन्ध वक्रता में रसादि की अभिव्यक्ति द्रष्टव्य है। भामह प्रभृति प्राचीन आचार्य रस को ही रसवत् अलङ्कार कहते हैं। रसादिध्वनि की अप्रधानता में ध्वनिवादी रसवत् अलंकार अङ्गीकार करते हैं। कुन्तक ने भामह, दण्डी, उद्‌भट और ध्वनिकार सभी के रसवत् अलङ्कारों का विस्तार से खण्डन किया है।[११६] आपने रसवत् की सर्वथा नवीन व्याख्या प्रस्तुत की जिसका परिणाम यह हुआ कि अधिकांश अलंकार, जिनमें रसवत्ता थी ही नहीं, वक्रोक्तिनय में अमान्य कर दिये गये। शृङ्गारादि रसों के समान प्रतीत होने वाले तथा काव्य में रसवत्ता का आधान करने वाले उपमादि अलङ्कारों को कुन्तक ने रसवत्ता की संज्ञा प्रदान की है।[११७] क्योंकि उपमादि भी काव्य में उसी भूमिका का निर्वाह करते हैं जो रसादि।[११८] रस समाहित होने के कारण, कुन्तक को, सीमित अलङ्कारों में ही अलङ्कारता मान्य है। वे हैं—दीपक, रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक, श्लेष, अर्थान्तरन्यास, आक्षेप, विभावना, पर्यायोक्त, अप्रस्तुतप्रशंसा, अतिशयोक्ति, ससन्देह, विरोध और अपह्नुति। वाक्य वक्रता में सम्मुल्लसित इन अलङ्कारों की कुन्तक ने अभिनव व्याख्या भी प्रस्तुत की है जिसके परिणामस्वरूप, ''उपोढरागेण'' जैसे गुणीभूत व्यंग्य के उदाहरणों में रूपक अलङ्कार रसवत्ता का आधान करता है।[११९] ऐसे स्थलों पर श्लेष की विशेषणवक्रता तथा लिङ्गवैचित्र्यवक्रता भी रसाधान में सहायक हुई है। कुन्तकोक्त अधिकांश अलङ्कार प्रतीयमान[१२०] सौन्दर्य सम्मुल्लसित हैं। इस प्रकार वाक्यवक्रता मात्र वाच्यालङ्कार ही नहीं प्रतीयमान अलङ्कारों का भी विषय है।

रसवद् अलङ्कार से नीरस पदार्थों में भी सरसता का सम्पादन किया जाता है।[१२१] यही कारण है कि कुन्तक इसे सभी अलङ्कारों का प्राण मानते हैं। प्रेय, ऊर्जस्वि, समाहित तथा उदात्त को अलङ्कार्य का विषय मानकर कुन्तक इनकी अलङ्कारता का प्रत्याख्यान करते हैं।[१२२] उपमेयोपमा; अनन्वय, तुल्ययोगिता, प्रतिवस्तूपमा, निदर्शना, परिवृत्ति प्रभृति अलङ्कारों को वह उपमा से व्यतिरिक्त नहीं मानते।[१२३] समासोक्ति भी प्रतीयमान उपमा का विषय है, उसमें कोई अतिरिक्त चमत्कार भी नहीं है। इसलिये कुन्तक उसकी भी अलङ्कारता का खण्डन करते हैं। यथासंख्य, विशेषोक्ति आशीः, सूक्ष्म, लेश, हेतु और उपमा-रूपक जैसे अलङ्कारों का भी वक्रोक्तिकार निरास करते हैं। अलङ्कारों को सीमित करने में कुन्तक का यह अभिप्राय निहित है कि अलङ्कार्य के विषय तो असंख्य हैं पर अलङ्कारों की सीमा

बहुत ही अल्प है, लोक में भी अलङ्कारों की प्रचुरता नहीं देखी जाती। वाक्यवक्रता की वाच्यप्रतीयमान उभयरूप विस्तृत साम्राज्य-सम्पत्ति का जितना सुन्दर और समुज्ज्वल[१२४] विवेचन कुन्तक ने किया है, अन्यत्र अप्राप्य है।

महाकवियों के प्रबन्धों में विराजमान प्रकरणवक्रता सहज रसनिष्यन्दिनी होती है। कुन्तक ने प्रकरणवक्रता के सन्दर्भ में अनेकों कारिकाओं और उदाहरणों से व्यक्त किया है कि प्रबन्धों में कविगण कथाओं को कुछ ऐसा मोड़ प्रदान करते हैं, उनमें कल्पनामूलक कुछ ऐसा परिवर्तन ला देते हैं कि कथांश की महनीयता बढ़ जाती है, रसपरिग्रह परम्परा उद्भासित हो उठती है। अभिज्ञानजानकी नामक नाटक और रघुवंश के कौत्सदक्षिणा सम्बन्धी प्रकरण का उदाहरण देते हुए कुन्तक ने प्रकरणवक्रता का प्रथम प्रकार वहाँ स्वीकार किया है जहाँ यशस्वीजनों का अपना अभिप्रायविशेष मूल से लेकर सम्पूर्ण विकास पर्यन्त निष्प्रतिबन्ध प्रकाश प्राप्त करता है।[१२५] उपर्युक्त नाटक में समुद्रबन्धन के प्रयास की सहजता तथा रघुवंश में रघु की उदारता और प्रभाव का जो चित्रण कवियों ने प्रस्तुत किया है उससे स्पृहणीय रस की सृष्टि होती है। दूसरे प्रकार की प्रकरण वक्रता का समुल्लास वहाँ होता है जहाँ इतिहास प्रसिद्ध कथाओं में कवि अपनी कल्पनाओं से ऐसा रूपान्तर प्रस्तुत कर देता है कि उससे अपूर्व लावण्य और रस की पराकाष्ठा समुद्भासित होती है।[१२६] उदाहरणार्थ अभिज्ञानशाकुन्तल का दुर्वासा-शाप, अङ्गुलीयक वृत्तान्त, दुष्यन्तका 'रम्याणिवीक्ष्य', आदि के द्वारा मानसिक द्वन्द्व, शकुन्तला के विरह में उसकी करुणदशा, भ्रमर तक को कारागार में डाल देने की धमकी आदि ऐसे प्रसङ्ग हैं जिनसे नाटक में रस का परमपरिपोष होता हैं। कुन्तक के अनुसार इतिहासप्रसिद्ध कथा का उत्पाद्यलावण्य दो प्रकार का होता है। कहीं तो इतिहास में न होने पर भी कवि उन्हें कल्पित कर लेता है और कहीं प्रसिद्ध कथा को भी औचित्यवश छोड़कर अन्यथा रूप दे दिया करता है। प्रथम का उदाहरण तो शाकुन्तल के उक्त प्रकरण हैं। द्वितीय का उदाहरण "उदात्तराघव" है, जहाँ मायामृग के वध के लिये लक्ष्मण को प्रेषित किया गया है और उनके आर्तस्वर पर कातर सीता ने राम को लक्ष्मण की रक्षा में भेजा है। उपर्युक्त दोनों ही वक्रतायें प्रकरण के माध्यम प्रबन्ध में भी रस की इयत्ता प्रख्यापित करती है।[१२७]

प्रबन्ध के एकददेश में विहित कथा जब प्रधान कार्य के अनुसन्धान में अन्त तक उपकार्य-उपकारक भाव से सन्निहित होकर कवि की विशेष-प्रतिमामण्डित नूतन वक्रता का सृजन करती है तब तृतीय प्रकार की प्रकरण वक्रता की सृष्टि होती है।[१२८] पुष्पदूषितक नाटक का अङ्गुलीयक वृत्तान्त तथा उत्तररामचरित का जृम्भकास्त्र वृत्तान्त इसका उदाहरण है। एक ही प्रतिपाद्य विषय को प्रतिप्रकरणों में इस प्रकार निबद्ध किया जाता है कि वहाँ अन्यूननूतनरसालङ्कार भ्राजमान प्रतीत होने लगता है, प्रकरणवक्रता का यह पृथक् प्रकार है।[१२९] हर्षचरित, तापसवत्सराज, तथा रघुवंश के उद्धरण यहाँ दर्शनीय हैं। महाकाव्य-आदि के अंगभूत जलक्रीडादि प्रकरणों से भी प्रकरण वक्रता

का नया सौन्दर्य भासित होता है।[१३०] अंक या सर्ग का वह प्रकरण जिसमें अङ्गीरस की ऐसी पराकाष्ठा हो जो पूर्व अंकों या सर्गों में असुलभ हो, अपर प्रकरण वक्रता को जन्म देती है।[१३१] विक्रमोर्वशीयम् के उन्मत्तांङ्क तथा किरातार्जुनीयम् के बाहुयुद्ध में इसकी रमणीयता दर्शनीय है। प्रधान कथा की निष्पत्ति के लिये निबद्ध कथान्तर[१३२], अंक में ही गर्भित अङ्कान्तर में निपुण नटों द्वार नटान्तर की भूमिका के निर्वाह[१३३] तथा पूर्वोत्तरभावी प्रकरणों में सन्धि-संविधान के सुन्दर निर्माण में[१३४] भी पृथक्-पृथक् प्रकरणवक्रताओं की मंजुलमधुरिमा पायी जाती है। इनके सुन्दर उदाहरण मुद्राराक्षस, बालरामायणं और पुष्पदूषितक, कुमार संभव, शिशुपालवध में सुलभ हैं जिनकी रसपरायणता का वक्रोक्ति जीवित में चित्तद्रुतिकर व्याख्यान प्रस्तुत किया गया है। प्रकरणवक्रता का प्रमुख विधेय है—रसप्रवाह—

एवमेषा महाकविप्रबन्धेषु प्रकरणवक्रताविच्छित्तिः रसनिष्यन्दिनी।[१३५]

ऐसे में प्रकरणवक्रता स्वयं में रसों का भी रसायन बनकर प्रबन्ध की महनीयता को रमणीयता की चरम सीमा तक आरूढ़ कर देती है। प्रकरण-समुदाय प्रबन्धों में यद्यपि प्रकरणों से ही रामणीयक सिद्ध होता है तथापि प्रबन्धवक्रता के पृथक् प्रकार भी बताये गये हैं।

प्रथम प्रकार की प्रबन्धवक्रता वहाँ होती है जहाँ अभिजात जनों को उन्मुख करने के लिये कविगण प्रायः शब्द, अर्थ और प्रकरण की वक्रताओं से मण्डित कथाओं में, इतिहास प्रसिद्ध रसों की उपेक्षाकर, अन्य रमणीय रसों का निर्वाह करके प्रबन्धवक्रता की रमणीयता का समुल्लास करते देखे[१३६] जाते हैं। वेणीसंहार की कथा शान्तरस प्रधान महाभारत से ली गयी है किन्तु कवि ने वीररस का समाश्रयण कर अभिजात जनों को राज्यश्री के योग के लिये उत्साह की प्रेरणा प्रदान की है। इसी प्रकार उत्तररामचरित करुण रस प्रधान रामायण पर आश्रित है, पर नाटक के उपसंहार में सकलदिव्यास्त्र कुशल लव की शक्ति को देखकर जनकनन्दिनी सीता के आनन्द से परिपुष्ट संभोगशृङ्गार का निबन्धन कर कवि ने अभिजात जनों के आनन्द की सृष्टि की है। प्रबन्धवक्रता का दूसरा रूप वहाँ देखा जाता है जहाँ कविगण उत्तरवर्तिनी नीरस कथा की जिहासा से नायकोत्कर्षकारिणी इतिहासप्रसिद्ध कथा के एकदेश से ही प्रबन्ध का उपसंहार कर देते हैं।[१३७] उदाहरण के लिये किरातार्जुनीयम् में महाभारत के विरह तथा अनुचित प्रकरणों का परित्याग कर कवि ने प्रबन्ध भङ्गी का निर्माण किया है। अधिकारिक कथा को तिरोहित करने वाले कार्यान्तर के विघ्न से विच्छिन्न विरस कथा को भी कवि जब प्रस्तुतेतर व्यापार से रसनिर्भर बनाने में समर्थ हो जाता है तो प्रबन्धवक्रता की एक नयी निर्मिति होती है।[१३८] शिशुपाल वध में इसका निदर्शन प्रेक्ष्य है। प्रबन्धवक्रता के उपर्युक्त तीन प्रकारों में प्रथम नाटकों का विषय है अन्य दो महाकाव्यों का।

काव्यों में प्रबन्धवक्रता का संविधान अन्य कई प्रकारों से भी संभव है। एकफल की संप्राप्ति के लिये यत्नवान् नायक को अन्य अनेक फलों की संप्राप्ति में[१३९], सुन्दर

संविधान सूचक नाटकादि के सुन्दर नामकरण में[१४०], एक ही कथानक को लेकर अनेक कवियों द्वारा प्रणीत प्रबन्धों की परस्पर विलक्षणता में[१४१], और प्रबन्ध प्रतिपाद्य उपदेशों की रमणीय परिणति में[१४२] प्रबन्धवक्रता का उज्ज्वल प्रकाश परिलक्षित होता है। नागानन्द नाटक में जीमूतवाहन अपने आप को गरुड को समर्पित कर शङ्खचूड के प्राणों की रक्षा तो करता ही है, साथ ही समस्त सर्पकुल की भी रक्षा करता है। इस प्रकार वह एक ही की प्राणरक्षा का नहीं, एक समुदाय की रक्षा का सुयश अर्जित करता है। अभिज्ञानशाकुन्तल, मुद्राराक्षस, प्रतिमानिरुद्ध, मायापुष्पक, कृत्यारावण, छलितराम, पुष्पदूषितक आदि नाटकों तथा हयग्रीववध, शिशुपाल वध, पाण्डवाभ्युदय, रामानन्द और रामचरित महाकाव्यों में नामजनित प्रबन्धवक्रता की रमणीयता व्यञ्जित है, नाम से ही समग्र वृत्त प्रकाशित हो उठता है। एक ही रामकथाश्रितत रामाभ्युदय, उदात्तराघव, वीरचरित, बालरामायण, कृत्यारावण, मायापुष्पक आदि नाटकों की परस्पर विलक्षणता सहृदयजनों को परिज्ञात ही है। प्रबन्धों का उपदेश 'रामादिवत् वर्तितव्यम्' काव्य का चरम प्रयोजन है।

इस प्रकार वक्रोक्ति सिद्धान्त में वर्ण, पद, वाक्य, प्रकरण तथा प्रबन्ध की वैदग्ध्यभङ्गीभणितिमण्डित, माधुर्यादिगुणगुम्फित सुकुमार आदि मार्गोज्वल, परस्परस्पर्धि-अन्यूनानतिरिक्त मनोहारी शब्दार्थ साहित्य समन्वित सहृदयहृदयाह्लादकारी, कविकौशलरमणीयवाक्यविन्याससुन्दर रचना ही समादरणीय है जिसमें वस्तु की सहज रमणीयता, रस की नवनवा सृष्टि, शैली की सुकुमार विवेचना अलङ्कारों की वाच्य-प्रतीयमान उभयविध वक्रिमा, ध्वनि की गम्भीर गरिमा, कविकुशलता की कमनीयता, समग्र काव्यसम्पत् वैदग्ध्यङ्गीभणिति रूप वक्रोक्ति में ही समुल्लसित होती है।

रसाभिव्यक्ति और रसानुभूति के सन्दर्भ में कुन्तक की दृष्टि विलक्षण है। प्रकरण तथा प्रबन्ध-वक्रता के निरूपण में आपने रस का जो स्वरूप प्रस्तुत किया है, उदाहरणपूर्वक सरस व्याख्यायें की है उनको यदि ध्वनिवाद की तुला पर रका जाय तो दोनों सिद्धान्तों में मात्र अन्तर इतना ही कहा जा सकता है कि कुन्तक रस को अभिधा के दायरे में रखते हुए व्याख्यान में आनन्दवर्द्धन और अभिनवगुप्त से निरन्तर स्पर्द्धाबद्ध हैं। आपकी विवेचना कहीं-कहीं तो अभिनवगुप्त की समीक्षा की याद दिलाती है और कहीं-कहीं आनन्दवर्द्धन की सरणि के अनुसरण की। 'रम्याणि वीक्ष्य मधुराणि निशम्य शब्दान्' इत्यादि 'शाकुन्तलम्' के श्लोक की व्याख्या में जिन्होंने अभिनवगुप्त की पण्डिताई देखी है उन्हें उसी की व्याख्या में कुन्तक की सहृदयता को देखनी चाहिए—

अत्र संमुग्धसुभगमेनकानन्दिनीस्मरणलेखालावण्यमन्यदेव चमत्कारकरणं सहृदयानां समुद्योतते। अपरं च परावर्तितायामपि व्यलीकमभिज्ञकं च महर्षिशिष्यसमाख्यातकरग्रह गर्भाधानायां महामन्युसमुन्मेषः। ....शापावसान समुत्पत्तये प्रसिद्ध स्मरणसमुल्लासि दुःसहविरहज्वरपातावेगविकलत्वं च समनन्तरमेव अङ्गुलीयसङ्गामादतीव सहृदयानाह्लादयति।

अभिनवगुप्त तथा कुन्तक के व्याख्यान के अन्तर को दोनों की भिन्न दृष्टियों के आलोक में देखा जाना चाहिए। सरपरिग्रह में काव्य में नवीनता आ जाती है। आनन्दवर्द्धन के इस कथन को कुन्तक भी स्वीकार करते हैं। रससृष्टि नाटक में और नट पर अधिक टिकी हुई है अभिनवगुप्त की इस दृष्टि का कुन्तक भी अनुगमन करते हैं—

सामाजिकजनाह्लादनिर्माणनिपुणैर्नटैः।

तद्भूमिकां समास्थाय निर्वर्तितनटान्तरम्॥

निरङ्कुशकौशलाः कुशीलवाः स्वीयभूमिकापरिग्रहेण रङ्गमलंकुर्वाणा चित्तचमत्कारवैचित्र्यमासूत्रयन्ति। इस प्रकार कुन्तक की वक्रोक्ति विचित्र प्रकार की अभिधा इसी अर्थ में है कि उसी में रस या वैचित्र्यापादन की क्षमता है।

भारतीय संस्कृति में पुरुषार्थ चतुष्टय का आपादन ही इसका प्राण है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष सभी प्राप्य और उपदेय हैं। सृष्टि का यावान् पदार्थ है सभी का सभी रमणीय है। रमणीयता में रिरंसाभाव निहित है। भारतीय मनीषी सांसारिक सुखों का भरपूर आनन्द लेकर ही परमानन्द की प्राप्ति की ओर अग्रसर होता रहा है। 'सर्वोऽपि रिरंसया व्याप्तः' अभिनवगुप्त की इस भावना का समुन्मेष वैदिक ऋषियों की महनीय वाणी में भी अभिव्यक्त हुआ है। परवर्ती लौकिक संस्कृत साहित्य की समग्र ललितविधाओं में भी यह भावना सुतरां अनुस्यूत है। चित्र, सङ्गीत, मूर्तिकलाओं के मूल में भी यही भाव है। काव्य-नाट्य में तो है ही। साहित्यसमीक्षक रचना का निकष है। दृष्टिभेद हो सकते हैं किन्तु तत्त्वभेद संभव नहीं है। हाँ, दृष्टिभेद से तत्त्वदृष्टि बदल जाती है। रचना का सुख तत्त्वतः एक ही है, रस, आनन्द या प्रीत्यापादन। भारतीय समीक्षाशास्त्र के प्राथमिक समीक्षक भामह-दण्डी प्रभृति आचार्य रसास्वाद को अभिधा के साम्राज्य में ही प्राप्त करते हैं, उसकी अभिव्यक्ति गुण रीति अलङ्कारों पर अवलम्बित है। रसापादन में भरत के लौकिक व्यञ्जन के उदाहरण को ध्यान में रखें तो इन आचार्यों की दृष्टि भरतमुनि के समीप थी। काव्य-नाट्यजगत् लोक का अनुकरण या अनुव्यवसाय है। कवि और नट, तदनन्तर पाठक-प्रेक्षक की भूमिका इसमें महत्त्वपूर्ण है। लोकवृत्त अभिधामूल है, काव्यवृत्त समग्रतः वैसा नहीं होता। आनन्दवर्द्धन तथा उनके अनुगामिजनों ने इसे पहचाना और ध्वनि की प्रतिष्ठा की जिसके मूल में व्यञ्जना शक्ति का प्राण निहित है इस दृष्टि में रसाभिव्यक्ति और तदनुभूति ध्वनि के क्षेत्र में जा पड़ी जिसमें सहृदय की भूमिका को प्रमुख स्थान मिला। आचार्य कुन्तक व्यंग्यार्थ का अपलाप तो नहीं कर सकते थे पर अभिधावैचित्र्य पर वह पूर्णतः मुग्ध हैं। इसलिये उनकी रसवत्ता वक्रोक्ति पर ही टिकी है। रस की पराकाष्ठा प्रकरण तथा प्रबन्ध वक्रता में प्राप्त है। कुन्तकनिरूपित रसाभिव्यक्ति के यथार्थ का साक्षात्कार उनके ग्रन्थ के चतुर्थ उन्मेष में किया जा सकता है। परवर्ती आचार्य भोजराज ने भी वक्रोक्ति पर पर्याप्त आदर प्रदर्शित किया है। समस्त वाङ्मय को ही उन्होंने तीन भागों में बाँट दिया है—वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति और रसोक्ति में।[१४३] डॉ०

वी०राघवन्[१४४] ने अपने ग्रन्थ में भोजराज और वक्रोक्ति पर प्रभूत प्रकाश डाला है। परवर्ती आचार्यों ने वक्रोक्ति को या तो खण्डन के लिये या एक अलङ्कार विशेष के निरूपणार्थ या अलङ्कारों के बीज रूप विच्छिति के पर्याय के लिये ही उपात्त किया है। अत: उनका निरूपण यहाँ अनपेक्ष्य है। आचार्य ने वक्रोक्ति सिद्धान्त को सार रूप में अपने ग्रन्थ में प्रदर्शित किया है।[१४५] जिस पर जयरथ प्रभृति आचार्यों की टीकाओं में भी वक्रोक्ति सिद्धान्त पर यत्किञ्चित् विचार किया गया है, प्रस्तुत में सभी को दे पाना न संभव है न बहुत संगत ही।

अन्त में कुन्तक की प्रशंसा और वक्रोक्ति सिद्धान्त की उपयोगिता के विषय में पुन: कहना समीचीन होगा कि कुन्तक की काव्यसमीक्षापद्धति का सिद्धान्त पाश्चात्त्य विचारकों की समीक्षापद्धति के बहुत समीप है, अत्यन्त सुलझा हुआ है। निर्भ्रान्त है। कुन्तक ने ध्वनि का अपलाप भी नहीं किया पर उसे वक्रोक्ति में ही पचा लिया। वस्तु या कथानक की सुन्दरता पर जितना अधिक ध्यान कुन्तक का गया है, किसी भी भारतीय समीक्षक की वहाँ पहुँच नहीं है। पाश्चात्त्य आलोचक भी प्लाट की उदात्तता पर भारी जोर देते हैं। अलङ्कारों की रस और प्रतीयमानपरक जो व्याख्या कुन्तक ने दी वह प्राचीनों तथा ध्वनिवादियों दोनों से ही विलक्षण है। षड्विध वक्रता के माध्यम अभिधा के अनन्त साम्राज्य का विस्तार कुन्तक ने ही किया है, प्राचीन आचार्य तो अभिधा के जन्मदाता मात्र थे। डॉ० के०कृष्णमूर्ति का यह कथन यथार्थ है कि आधुनिक दृष्टि से कुन्तक जैसा काव्यालोचक संस्कृत काव्यशास्त्र में कोई दूसरा नहीं हुआ।[१४६]

*

सन्दर्भ-सूची

१. द्रष्टव्य—महामहोपाध्याय पी०बी० काणे—*संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास,* पृ० ४७१-७२ तथा डॉ० सुशील कुमार दे—भूमिका वक्रोक्ति जीवित, पृ० १५-१६. इन सन्दर्भों में बाण की कादम्बरी के उद्धरण तथा अमरुशतक, १.२९ के भी उद्धरण द्रष्टव्य हैं। उदाहरणार्थ बाण ने—वक्रोक्तिनिपुणेन विलासिजनेन तथा—एषापि बुध्यत एवैतावती—वक्रोक्तिः का प्रयोग किया है। नायिका के सन्दर्भ में अमरुशतक की उक्ति—न जानाति सविभ्रमाङ्गवलनावक्रोक्तिसंसूचनम् भी वहीं द्रष्टव्य है। कवि रत्नाकर की चौरपंचाशिका में वक्रोक्ति शब्द प्राप्त है।

२. सुबन्धुर्बाणभट्टश्चकविराज इति त्रयः। वक्रोक्तिमार्गनिपुणाश्चतुर्थो विद्यते न वा।—वही, सु०कु० दे, पृ० १६ की पाद-टिप्पणी।

३. द्रष्टव्य—*ध्वन्यालोक* (चौखम्बा संस्करण, १९६५), पृ० २९

४. द्रष्टव्य—*ध्वन्यालोकलोचन,* (चौखम्भा संस्करण, १९६५), पृ० २९-३० तथा डॉ० दे की पाद-टिप्पणी, वही, पृ० १६

५. *व्यक्तिविवेक,* व्याख्यान—रुय्यक, पृ० १८, उद्धरण डॉ० आर०सी० द्विवेदी, अलं—मी०, पृ० ९९

६. वामन—*काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति,* १/२

७. *काव्यादर्श,* २/१

८. श्री देवेन्द्र शर्मा, भूमिका, *काव्यालङ्कार,* पृ० ४१, डॉ० राधावल्लभ त्रिपाठी का कथन कि भामह वक्रोक्ति को पृथक् अलङ्कार मानते हैं, सर्वथा भ्रान्त धारणा है। डॉ० त्रिपाठी का ग्रन्थ—*काव्यशास्त्र और काव्य*—पृ० १२५

९. भामह, *काव्यालङ्कार,* २/८५, द्रष्टव्य—डॉ० दे की भूमिका—*वक्रोक्तिजीवित,* पृ० १७,१८

१०. हेतुश्च सूक्ष्मो लेशश्च नालङ्कारतया मतः।
समुदायाभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः ॥ वही, २/८६

११. गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।
इत्येवमादि किं काव्यं वार्तामेनां प्रचक्षते ॥ वही, २/८७
युक्तं वक्रस्ववभावोक्त्या सर्वमेवैतदिष्यते। वही, १/३०, अपुष्टार्थमवक्रोक्ति १/३४

१२. वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ् कृतिः। १/३६, वक्रवाचं कवीनाम्—६/२३, वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलङ्काराय कल्पते। ५/६६, द्र० डॉ० दे, *सं०का०शा०इ०,* भाग २, पृ० ४७

१३. वही, २/८१ तथा ८४

१४. *ध्वन्यालोक,* ३/३६ की वृत्ति

१५. अतिशयोक्तिर्लक्षिता सैव सर्वा वक्रोक्तिरलङ्कारप्रकारः सर्वः। ....शब्दस्य च वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेणावस्थानमित्ययमेसावलङ्कारभावः—अनया अर्थः—पुराणीकृतोऽपि विचित्रतया भाव्यते तथा प्रमदोद्यानादिः विभावतां नीयते, विशेषेण च भाव्यते रसमयी क्रियते लोचन, पृ० ४९८-५००, तु० मम्मट का०प्र० पृ० ७४३ तथा प्रदीपोद्योत। लक्षण से वक्रोक्ति से विकास हेतु देखिये—डॉ० रा०ब० त्रिपाठी का ग्रन्थ—*काव्यशास्त्र और काव्य,* पृ० ८-९

१६. भामह, वही, १/२१

१७. भामह, वही, २/९३

१८. आक्रोशन्नाह्वयन्नाधावन्मण्डले रुदन्।
गा वारयति दण्डेन डिम्भः सस्यावतारणीः ॥ वही, २/९४

१९. द्र० वही, सु०कु० दे—वक्रोक्तिजीवित की भूमिका, पृ० २०-२१ तथा हि०सं०पो० भाग दो, पृ० ४८-५१ तथा हिन्दी संस्करण, भाग दो, पृ० ४७ की पाद-टिप्पणी।

२०. द्रष्टव्य—*काव्यादर्श* (मिथिला विद्यापीठ सं०) २/३६०

२१. श्लेषोऽयं स्वभावोक्तिं जात्यपरपर्यांयां मुक्त्वा सर्वासूपमादिषु न कस्यचिदेव....... श्रियं शोभां पुष्णाति......... प्रायो बाहुल्येन। ....जातो वा क्वचितत्प्रयोगात् प्राय इत्युक्तम्। ....स्वभावोक्तिर्जातिः यथावस्थितविचित्रपदार्थपरिदीपनरूपा, वक्रोक्तिश्च वस्तुस्वभावस्य तथा तथान्यथाभिधानस्वभावा पूर्वोक्तं विचित्रप्रभेदा उपमादिः।

—वही, रत्नश्री, पृ० १९६

२२. देखिये, डॉ० डे की व०जी० पर भूमिका, पृ० २४

२३. *काव्यादर्श*, २/८

२४. वही, २/१३

२५. वही, २/२४२

२६. *काव्यादर्श*, २/२४४

२७. वामन, *का०सू०वृ०*, ४.३.८

२८. डॉ० सु०कु० दे के अनुसार—वामनोक्त वक्रोक्ति ध्वनिकार की दृष्टि में लक्षणामूला गूढार्थ व्यङ्ग्यप्रधान ध्वनि है (व०जी०, भूमिका, पृ० ४)। अलङ्कारसर्वस्व के टीकाकार विद्याचक्रवर्ती वामन की इस वक्रोक्ति को लक्षणामूला अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि मानते हैं। द्रष्टव्य—डॉ० आर०सी० द्विवेदी सं०अल० सर्वस्व-संजीवनी, पृ० ७. इसी सन्दर्भ में रुय्यक का यह कथन भी ध्यातव्य है—वामनेन तु सादृश्यनिबन्धनाया लक्षणाया वक्रोक्त्यलङ्कारं बुवता कश्चिद्ध्वनिभेदोऽलङ्कारतयैवोक्तः —अलं०स०, वही, पृ० ७

२९. द्र०, रुद्रट—काव्यालङ्कार, २/१४

३०. वही, २/१६

३१. का०प्र० ९/७८, सा०द० १०/९, वक्रोक्ति अलङ्कार का ऐतिहासिक स्वरूप, भेद आदि सविस्तार जानने के लिए द्र० डॉ० दशरथ द्विवेदी—शोध-प्रबन्ध "*संस्कृत काव्यशास्त्र में अलङ्कारों का उद्भव और विकास*", पृ० ९०१-९८८

३२. *का०प्र०*, पृ० ७४४ (अलङ्कार)

३३. कुन्तक के नाम, समय और रचना कर्तृत्व के लिये विस्तार से देखें—डॉ० दे हि०सं० पो० पृ० १८०-१९४, उसी का हिन्दी संस्करण *सं०का०इ०*, पृ० १६७-७४, काणे० *सं०का०इ०*, पृ० २८१-२९४

३४. द्रष्टव्य—डॉ० आर०सी द्विवेदी द्वारा सं० *प्रिन्सिपल्स ऑफ लिट्रेरी क्रिटिसिज्म इन संस्कृत* में डॉ० श्रीमती हेमलता आर० त्रिपाठी का निबन्ध—वक्रोक्ति एण्ड लिट्रेरी क्रिटिसिज़्म, पृ० ९०-९१

३५. इस सन्दर्भ में आचार्य विश्वेश्वर सं० वक्रोक्तिजीवित की डॉ० नगेन्द्र द्वारा लिखित भूमिका तथा उन्हीं के ग्रन्थ—*काव्य में उदात्त तत्त्व*—को देखना चाहिए।

३६. इह विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम्। तयोश्च वैशिष्ट्यं धर्ममुखेन, व्यापारमुखेन, व्यंग्यमुखेन वेति त्रयः पक्षाः। आद्येऽप्यलङ्कारतो गुणतो वेति द्वैविध्यम्। द्वितीयेऽपि भणितिवैचित्र्येण भोगकृत्वेन वेति द्वैविध्यम् इति—पंचसु पक्षेषु आद्य उद्भटादिभिरङ्गीकृतः, द्वितीयो वामनेन, तृतीयो वक्रोक्तिकारेण, चतुर्थो भट्टनायकेन, पंचम आनन्दवर्द्धनेन।—स०बं०, पृ० ३-४

३७. *काव्यादर्श*, रत्नश्री, पृ० १५

३८. *वक्रोक्तिजीवित*, (डॉ० डे, सं० १९६१) पृ० ३

३९. कविव्यापारस्य वस्तुतः सर्वत्रातिशायित्वम्। वही, पृ० २८, कवि-व्यापारः काव्यक्रियालक्षणः पृ० २९, कवि-प्रतिभा प्रोढिरेव प्राधान्येनावतिष्ठते। पृ० १३

४०. वही, १/२-५

४१. वही, संग्रहश्लोक, ३७-४०

४२. कविचेतसि प्रथमं प्रतिभाप्रतिभासमानमघटितपाषाणशकलकल्पमणिप्रख्यमेव वस्तु विदग्धकविविरचितवाक्योपारूढं शाणोल्लीढमणिमनोहरतया दह्विदाह्लादकारि काव्यत्वम धिरोहति। —वही, पृ० ९

४३. वही, १/७

४४. ननु वाच्यवाचक सम्बन्धस्य विद्यमानत्वात् एतयोः न कथंचिदपि साहित्यविरहः, सत्यमेतत्, किन्तु विशिष्टमेवेह साहित्यमभिप्रेतम्। —वही, पृ० १०

४५. तेन यत्केषांचिन्मतं.......शब्द एव केवलं काव्यम्......वाच्यमेव काव्यमितिपक्षद्वयमपि निरस्तं भवति, तस्माद् द्वयोरपिप्रतितिलिमिव तैलं तद्विदाह्लादकारितां वर्तते, न पुनरेकास्मिन्। वही, पृ० ७, न शब्दस्यैव रमणीयताविशिष्टस्य केवलस्य काव्यत्वम्, नाप्यर्थस्य पृ० १०

४६. कविना वर्णसावर्ण्यरम्यतामात्रमत्रोदितं न पुनर्वाच्यवैचित्र्यकणिका काचिदस्ति। अतिग्राम्ये यमुक्तिः। पृ० ७-८ तथा समसर्वगुणौ सन्तौ सहृदाविवसङ्गतौ। परस्परस्यशोभायै शब्दार्थौ भवतो यथा—वही, अन्तश्लोक, १८

४७. शब्दस्य शब्दान्तरेण वाच्यस्य वाच्यान्तरेण साहित्यं परस्परस्पर्धित्वलक्षणमेव विवक्षितम्। पृ० १२ अर्थः वाचकासद्भावे...... मृत्कल्प एवावतिष्ठते..... शब्दोऽपि वाच्यासम्भवे वाक्यव्याधिबूतः प्रतिभाति। पृ० १४

४८. शब्दोविवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि। अर्थः सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दरः। वही, १/९

४९. वही, पृ० ७

५०. ननु द्योतकव्यंव्यजकावपि शब्दौ अर्थप्रतीतिकारित्वसामान्यादुपचारात्तावपि वाचकावेव। वही, पृ० १५

५१. पुनश्च, वही, पृ० १५

५२. साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काप्यसौ। अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवास्थितिः। वही, १/१७ तथा वृत्ति—अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिणी-परस्परस्पर्धित्वरमणीया। यस्यां द्वयोरेकतरस्यापि न्यूनत्वं निकर्षो न विद्यते, नाप्यतिरिक्तत्वमुत्कर्षो वास्ति। पृ० २७

५३. द्रष्टव्य वही सङ्ग्रह श्लोक, ३४-३८

५४. द्रष्टव्य—कृष्णचैतन्य की पुस्तक—*संस्कृतपोयटिक्स,* पृ० ६२-६३

५५. कृष्णचैतन्य, वही, पृ० ७१ तथा कुन्तक, पृ० १३

५६. *ध्वन्यालोक*—शब्दार्थशरीरन्तावत् काव्यम्। (पृ० १७), सहृदयहृदयाह्लादिशब्दार्थमयत्व-मेव काव्यलक्षणम् (पृ० २३), काव्यस्य हि ललितोचितसन्निवेशचारुणः शरीरस्य पृ० ४५, विविधवाच्यवाचकरचनाप्रपंचचारुणः काव्यस्य, पृ० ८९, इसी प्रकार ध्वन्यालोक तथा लोचन और वामन प्रभृति के काव्यलक्षण सभी कुन्तक के ही समान हैं, परन्तु काव्यलक्षण और काव्य की लोकोत्तरता की प्रतिष्ठा तो कुन्तक के शब्दों में ही बनती है। ''रचयेत्तमेव शब्दं रचनायाः यः करोति चारुत्वम्'' रुद्रट की इस उक्ति में भी चारुता का समावेश है, भामह भी वर्णसाम्यरमणीयता को सौशब्द्य कहते हैं और उभयात्मक सौन्दर्य के पोषक हैं। पं० राजजगन्नाथ का—रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्—प्रसिद्ध ही है।

५७. वही १/१०

15735

५८. द्रष्टव्य, वही सङ्ग्रह श्लोक ३७-४०

५९. द्र०, डॉ० दे की भूमिका, वही, पृ० २७, काणे *सं०का०दू०* पृ० ४७३ तथा आलङ्कारिकों के मत

६०. वही, १/१० की वृत्ति

६१. वही—काप्यपूर्वैवाभिधा सैव जीवितम्। पृ० १४४

६२. अलङ्कारो विधीयते, कस्य? काव्यस्य।

६३. वही, १/६ तथा वृत्ति—यद्यपि समुदायभूते तयोरन्तर्भावः १......सकल स्यालङ्करणसहितस्य निरस्तावयवस्य सतः समुदायस्य काव्यता कविकर्मत्वम्। तेनालङ्कृतस्य काव्यत्वमिति स्थितिः, न पुनः काव्यस्यालङ्कारयोगः। —पृ० ६-७

६४. अलङ्कारकृतां येषां स्वभावोक्तिरलङ्कृतिः।
अलङ्कार्यतया तेषां किमन्यदवतिष्ठते॥ १/११

स्वभाव एवोच्यमानः किमन्यत्तद्व्यतिरिक्तं काव्यशरीरकल्पं वस्तु विद्यते...... न किंचिदित्यर्थः। वृत्ति, तथा १/१२-१५ एवं वृत्ति—स एव यस्य कस्यचित्पदार्थस्य प्रख्योपाख्यावतारनिबन्धनम्...... स्वभाव एव वर्ण्यशरीरम्। स एव चेदलङ्कारो तत् किमपरं तद्यतिरिक्तं विद्यते यदलङ्कुरुते....आत्मैव नात्मनः स्कन्धं क्वचिदप्यधिरोहति।......स्वभाव एव सहृदयह्लादकारी काव्यशरीरत्वेन वर्णनीयतां प्रतिपद्यते—स एवालङ्कारेण योजयितव्यः। वही, वृत्ति

६५. वही, ३/१ तथा भावस्वभावसौकुमार्यवर्णनप्रस्तावे भूयसां न वाच्यालङ्काराणामुपमादीनामुपयोगयोग्यता संभवति, सौकुमार्यातिशयम्लानताप्रसङ्गात्।... अगतिकगतिन्यायेन काव्यकरणं न यथाकथंचिदनुष्ठेयतामर्हति....अनुत्कृष्टधर्मयुक्तस्य वर्णनीयस्यालङ्करणमप्यसमुचितभित्तिभागोल्लिखितालेख्यवन्न शोभातिशकारितावमाति।...स्वाभाविकसौन्दर्यप्राधान्येन विवक्षितस्य च भूयसा रूपकाद्यलङ्कार उपकाराय कल्प्यते..... वही, वृत्ति, पृ० १३४-३५

६६. विलासवतीव..... नात्यन्तमलङ्करणसहतां प्रतिपद्यते। वही पृ० १२६

६७. सातिशयत्वशून्यधर्मयुक्तस्य वस्तुनो विभूषितस्यापि पिशाचादेरिव......अनुपादेत्यत्वमेव.....वही, वृत्ति, पृ० १३६-३८

६८. भावानामपरिम्लानस्वभावौचित्यसुन्दरम्।
चेतनानां जडानां च स्वरूपं द्विविधं स्मृतम्॥ —वही, ३/५

६९. तत्र पूर्व प्रकाराभ्यां द्वाभ्यामिव विभिद्यते।
सुरादिसिंहप्रभृतिप्राधान्येतरयोगतः॥
मुख्यमक्लिष्टरत्यादिपरिपोष मनोहरम्।
स्वजात्युचितहेवाक समुल्लेखोज्ज्वलं परम्॥ —वही, ३/६-७ तथा वृत्ति

७०. रसोद्दीपनसामर्थ्यविनिबन्धनबन्धुरम्।
चेतनानाममुखयानां जडानां चापि भूयसा। —वही, ३/८ तथा वृत्ति

७१. स्वभावोक्तेरलङ्कारत्वम्—नाम का मेरा शोध-पत्र दर्शनीय, अ०भा०प्रा०वि० सम्मेलन में पठित तथा सा० अकादमी, द्वारका से प्रकाशित।

७२. संप्रति तत्र ये मार्गाः कविप्रस्थानहेतवः।
सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्चोभयात्मकः॥ —वही, १/२४

७३. रीतिरात्मा काव्यस्य। विशिष्टपदरचना रीतिः, विशेषो गुणात्मा। देशेषु नामसमाख्या। समग्रगुणोपेता वैदर्भी। ओजः कान्तिमयी गौडीया। माधुर्यसौकुमार्योपपन्ना पाञ्चाली। तासां पूर्वाग्राह्या सर्वगुणत्वात्। नेतरे स्तोकगुणत्वात् वामन, का०सू०वृ० १.२.१-२२

७४. देशभेदानुबन्धनत्वेन रीतिभेदानाम् देशानामानत्त्यादसंख्यत्वं प्रसज्यते.....न च रीतिनामुत्तामाधममध्यमत्वभेदेन त्रैविध्यमेव स्थापयितुं न्याय्यम्.....। वही, पृ० ४५-४६

७५. कविस्वभावभेदनिबन्धनत्वेन काव्यप्रस्थनभेदः समंजसताम् गाहते। वही, पृ० ४६

७६. विचित्रः स्वभावो यस्य कवेः..... रमणीय एव.....काचिद्विचित्रेव तदनुरुपा शक्तिः समुल्लसति। तया च तथाविधवैदग्ध्यवन्धुराम् व्युत्पत्तिमाबघ्नाति। ताभ्यां च विचित्र वर्त्मनाभ्यासभाग् भवति। —वही, वृत्ति, पृ० ४६

७७. वही, पृ० ४६

७८. कविस्वभावभेदनिबन्धनत्वादनन्तभेदभिन्नत्वमनिर्वायम्। —वही, पृ० ४७

७९. रत्नाकर के हरविजय, १३-१० पर अलक की टीका, उद्धत डॉ० के० कृष्णमूर्ति की भूमिका व०जी०, पृ० २४

८०. प्रतिभा की व्याख्या देखें डॉ० शिवशङ्कर अवस्थी का ग्रन्थ-कला और साहित्य की दार्शनिक भूमिका, सातवाहन प्रकाशन नई दिल्ली।

८१. अम्लानप्रतिभोद्भिन्ननवशब्दार्थबन्धुरः।................
सुकुमारामिधः सोऽयं येन सत्कवयो गताः। मार्गेणोत्फुल्लकुसुमकाननेनेवषट्पदाः।
—वही, १/२५-२९ तथा वृत्ति एवं उदाहरण

८२. वही, १/३०-३३

८३. *ध्वन्यालोक*, १/४

८४. ननु कैश्चित् प्रतीयमानम् वस्तु ललनालावण्यसाम्याल्लावण्यमित्युपपादितम् तत् कथं वन्धसौन्दर्यमात्रम् लावण्यमित्यभिधीयते.....प्रतीयमानम् पुनः काव्यपरमार्थज्ञानामेव।...... कामिनीनाम् किमपि सौभाग्यं.........नायकानामेव संवेद्यतामर्हति.......लावण्यम् सकललोकगोचरतामायाति। —वही, वृत्ति पृ० ५६

८५. ....विचित्रो यत्र वक्रोक्तिवैचित्र्यं जीवितायते। सोऽतिदुःसञ्चरो येन विदग्धकवयो गताः। —वही, १/३५-४-४३

८६. अतिदुःसञ्चरः येन केचिदेव व्युत्पन्नाः केवलं गताः। भणिति-वैचित्र्यमात्रमेवात्र काव्यार्थः........भणितिवैचित्र्यं सहस्रप्रकारं संभवति। पृ० ५८-६५

८७. कुन्तक के मार्गों की पाश्चात्त्य विचारों से तुलना के लिये द्रष्टव्य कृष्णचैतन्य का *सं०पो०* पृ० १०५

८८. द्र० वही, १/४४-४८

८९. वही, १/४९-५२

९०. वही, १/५३-५७

९१. ध्वन्यालोक, ३/३२-३३
अनौचित्यादृिते नान्यद्रसभङगस्य कारणम्। पृ० ३६२

९२. *ध्वन्यालोक*, ३/३३, ३/४६ तथा वही, वृत्ति

९३. वही, १/९ तथा २/१-७

९४. वही, पृ० ८६

९५. *वक्रोक्तिजीवित*, पृ० ८३, *ध्वन्या०*, पृ० १७६-७७

९६. वही, पृ० ८३

९७. वही, २/१०९-१२ तथा वृत्ति
९८. ....गौर्वाहीक इत्यनेन न्यायेन.....। एष एव च शब्दशक्तिमूलानुरणनव्यङ्ग्यस्य पदध्वने: विषय:। वही, वृ० ९५
९९. अलङ्कारेण शोभान्तराधानम्, ...अलङ्कारस्य शोभान्तराधानम् च। वही, पृ० ९८
१००. वही, २/१३-१४
१०१. वही, पृ० १०१ तु० *ध्वन्या०,* पृ० १८९
१०२. उपचारवक्रतादिभि: समस्तोध्वनिप्रपञ्च: स्वीकृत:। स्ययक, अल०स०, पृ० १० यहाँ पर यह ध्यान देने की आवश्यकता है कि उपचारवक्रता में ध्वनि के कतिपय भेदों को समाहित करने के कारण जयरथ प्रभृति विद्वान् कुन्तक को ध्वनिकार के "भाक्तमाहुस्तमन्ये" पक्ष का सिद्ध करते हैं। द्र० डॉ० डे० *वक्रोक्तिजी०,* भूमिका, पृ० ४२-४३, काणे, पृ० २८८ तथा डे०, *सं०सा०इ०,* पृ० भाग २, पृ० १७२-७३
१०३. वही, २/१५
१०४. वही, सङ्ग्रहश्लोक पृ० १०५
१०५. वही, २/१६
१०६. वही, २/१९-२३
१०७. वही, २/२४-३१ तथा वृत्ति उदाहरण
१०८. वही, २/१७-१८ तथा ३२
१०९. वही, २/३३
११०. वही, २/३४
१११. वही, पृ० १३३
११२. वही, १/२०
११३. वही, ३/१ तथा वृत्ति, पृ० १३६-१३८
११४. वही, ३/२-७ तथा विस्तृत विवेचनाय वृत्ति। निश्चय ही कुन्तक का प्रकृत विवेचन ध्वनिकार से अधिक स्पष्ट एवं विभ्रान्त तथा श्लाध्य है।
११५. शृङ्गारादिरेव प्राधान्येन वर्ण्यमानोऽलङ्कार्य:...... पृ० १५७
यस्य कस्यचित् काव्यत्वं रसवत्वमेव। पृ० १६२
११६. वही ३/११ तथा वृत्ति पृ० १५६-१६५
११७. वही ३/१५-१६ तथा वृत्ति (के० कृष्णमूर्ति)।
११८. रस: काव्यस्य रसवत्तां तद्विदाह्लादं च विदधात्येवमुपमादिरपि उभयं निष्पादयन् रसवदलङ्कार। वही, (कृ० मूर्ति) पृ० १६५
११९. डॉ० कृष्णमूर्ति द्वारा यहाँ डॉ० राघवन् तथा डॉ० सु० क०दे० की भ्रान्ति की आलोचना बहुत उपयुक्त है। भूमिका *वक्रोक्तिजीवित,* डॉ० के० कृष्णमूर्ति, पृ० ३२-३३
१२०. व्यतिरेक के शब्द और प्रतीयमान दो भेद करके कुन्तक ने प्रतीयमान के समर्थन में आनन्दवर्धन की कारिका "प्रतीयमानं पुनरन्यदेव" को उद्धृत भी किया है।
१२१. नीरसानां पदार्थानां सरसतां समुल्लासयितुं रसवदलंकारं समासादितवान्। वही, (के० कृष्णमूर्ति), पृ० १६९
१२२. वही पृ० १३७-१७४
१२३. वही, पृ० २००-२०४
१२४. भूषणान्तरभावेन शोभाशून्यतया तथा। अलङ्कारास्तु ये केचिन्नालङ्कारतया मनाक् —वही, ३/६२ (कृ०मू०) तथा

अभिधाया: प्रकाराणामानन्त्यं प्रतिभोद्भवम्।
वक्तुं न पार्यते कान्तालीलावैचित्र्यवत्स्फुटम्। —वही (कृ०मू०) पृ० २०४

१२५. वही, (कृ०मू०) ४/१-२ तथा वृत्ति।

१२६. वही, ४/३-४ तथा वृत्त्युदाहरण।

१२७. निरन्तररसोद्गारगर्भसन्दर्भनिर्भरा।
गिर: क्वीनां जीवन्ति न कथामात्रमाश्रिता: वही संग्रह श्लोक, पृ० २५२

१२८. वही, ४/५-६ तथा वृत्त्युदाहरण

१२९. वही, ४/७-८ तथा वृत्त्युदाहरण

१३०. वही, ४/९ तथा वृत्त्युदाहरण

१३१. वही, ४/१० तथा वृत्त्युदाहरण।

१३२. वही, ४/११ तथा वृत्त्युदाहरण।

१३३. वही, ४/१२-१३ तथा वृत्त्युदाहरण।

१३४. वही, ४/१४-१५ तथा वृत्त्युदाहरण।

१३५. वही, पृ० २४८ तथा संग्रहकारिका-
निरन्तररसोद्गारगर्भसन्दर्भनिर्भरा।
गिर: कवीनां जीवन्ति न कथामात्रमाश्रिता:। ४/१३४ तथा ४७-४८ भी

१३६. वही, ४/१६-१७ तथा वृत्त्यदुदाहरण, संग्रहकारिका, ४९

१३७. वही, ४/१८-१९ तथा वृत्त्युदाहरण और संगर्‌हकारिका ५३

१३८. वही, ४/२०-२१ वृत्ति तथा उदाहरण

१३९. वही, ४/२२-२३ वृत्ति तथा उदाहरण भी

१४०. वही, ४/२४, वृत्ति

१४१. वही, ४/२५ तथा—कथोन्मेषे समानेऽपि वपुवीव निजैर्गुणै:।
प्रबन्धा, प्राणिन इव प्रभासन्ते पृथक्-पृथक् अन्तर श्लोक, ५६

१४२. वही, ४/२६ तथा—वक्रतोल्लेरववैकल्यमसत्काव्ये विलोक्यते।
प्रबन्धेषु कवीन्द्राणां कीर्तिकन्देषु किं पुन: —वही, अन्तर श्लोक, ५७

१४३. वक्रोक्तिश्च स्वभावोक्ति: रसोक्तिश्चेति वाङ्मयम् श्रृं०प्र० १/८

१४४. डॉ० बी० राघवन्—भोजास् शृंङ्गार प्रकाश, पृ० ११४-१३७ तथा डॉ० लक्ष्मीनारायण सिंह का अलङ्कार-प्रस्थान-विमर्श, वि०वि० प्रकाशन, वाराणसी

१४५. वक्रोक्ति जीवितकार: पुनर्वैदग्ध्यभङ्गीभणितिस्वभावां बहुविधां वक्रोक्तिमेवप्रधान्यात्-काव्यस्य जीवितमुक्तवान्। व्यापारस्य प्राधान्यञ्च काव्यस्य प्रतिपेदे। अभिधानप्रकारविशेषा एवालकारा:। सत्यपि त्रिविधेप्रतीयमाने व्यापाररूपा भणितिरेव कविसंरम्भगोचरा। उपचारवक्रतादिभि: समस्तो ध्वनिप्रपञ्च: स्वीकृत:। केवलमुक्तिवेचित्र्यं जीवितं काव्यस्य न पुनर्व्यंग्यार्थजीवितमिति तदीयं दर्शनं व्यवस्थितम्। (सं०रा०चं० द्विवेदी, अ०स०, पृ० ९-१०)

१४६. डॉ० के० कृष्णमुर्ति—वक्रोक्ति जीवित की भूमिका, पृ० ३५-३९ लेखक डॉ० कृष्णमूर्ति द्वारा सम्पादित वक्रोक्तिजीवित के लिये कृतज्ञ है क्योंकि उसके बिना लेख वैसे ही अपूर्ण रह जाता है जैसे डॉ० सु०कु०दे० तथा डॉ० काणे के विचार

*

आचार्य अभिनवगुप्तनिरूपित रसप्रक्रिया

यस्तन्मयान् हृदयसंवदनक्रमेण द्राक् चित्रशक्तिगणभूमिविभागभागी।
हर्षोल्लसत् परविकारजुषः करोति वन्देतमां तमहमिन्दुकलावतंसम्॥

हिरण्यवर्णा, सद्यः स्नाता युवती के समान सुवर्णरथारूढ[१] उषा की मधु-मधुर स्मित से विमुग्ध, निरभ्र प्रसन्न धवल चन्द्रिका वितानतले निःष्पन्द, निःशब्द, त्रिविष्टप् को सुखद विश्राम की निद्रा में निमग्न कराने वाली निशावधू की उद्दाम मादकता से आप्यायित[२], पुरोहित अग्नि की तपःपूत मृदूच्चण्ड अर्चियों का अनुभवी[३], समान सुन्दर वृक्षाधिवासी दो सुपर्णों की फल के भोगाभोग से समुत्पन्न सौन्दर्यश्री का द्रष्टा[४] कालक्रम से विष्णु के परम पद में मधूत्स का उत्साही, परमसत्ता के रसस्वरूप—'रसोवैसः', का भोक्ता, 'आनन्दं ब्रह्म' का अपरिमित सुख लूटने वाला, क्रान्तदर्शी वैदिक कवि रस का कितने समीप से, कितनी विविधताओं और कितनी बारीकियों से साक्षात्कार करता था इसकी कल्पना आज के भौतिक प्राणी से केवल अनुमानित हो सकती है, अनुभूत नहीं। चराचर जगत् का विध्वंसी यन्त्रमानव निषाद-विद्धाण्डजदर्शनोत्थ[५] शोक के पल्लवांश का भी आस्वाद पा सकेगा क्या? वैविध्यपूर्ण चित्रजगत् में परमसुन्दर स्रष्टा से सृष्ट धरती पर सुलभ सुच्छायाम्भोज मकरन्दवत् त्रिवर्ग की धर्मादिपूर्वक ही सेवन करने की ऊर्ध्वबाहुविरावपूर्वक अवधीरित सम्मति से विषण्ण महामति व्यास की—भगवान् वासुदवो हि कीर्त्यतेऽत्र सनातनः—विरसावसान मनोव्यथा की रमणीयता का आनन्द सहजगम्य है क्या? और फिर काल की असीम सीमा में भारतीय सौन्दर्य चेतना की सतत गतिशील भंगिमा को आचार्य भरतमुनि ने एक दिन में ही पहचान लिया था, साङ्गोपाङ्ग उपन्यस्त कर दिया था, इसकी न कल्पना की जा सकती है न मुनि ने ही स्वीकार किया है। नाट्यशास्त्र में इसे स्वयं वह स्वीकार करते हैं। अभिनवगुप्त के वचन भी इसमें प्रमाण हैं।[६] देवों का शान्त[७] चाक्षुष क्रतु नाट्य सार्ववर्णिक पंचमवेद[८] है। वर्तमान नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरत थे किन्तु रस के आचार्य तो नन्दिकेश्वर ही[९] थे। द्रुहिण, दत्तिल कोहल आदि आचार्यों के नाम नाट्यशास्त्र में सादर उपात्त हैं[१०]। स्पष्ट है कि भरतमुनि ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों की सम्यक् जानकारी प्राप्त की थी, परिशीलन किया था और तब अपने ग्रन्थ का प्रणयन किया था।

नाट्य को रसस्वभाव होना चाहिये[११]। रसस्वभाव होने के कारण ही नाट्य को रस का पर्याय ही माना गया—तेन रस एव नाट्यम्[१२]। नाट्यमेव रसः[१३]। नाट्यगत समस्त वस्तु रसानुगत होती है। इसीलिये रसों की विवेचना के पूर्व आचार्य ने लिखा—नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते[१४]। लोक के सुख-दुःखात्मक स्वभाव का भावानुकीर्तन ही नाट्य है[१५]। यह नाट्य सभी का विश्रान्तिजनक है[१६]। विश्रान्ति की अवस्था आनन्दमयी होती है। सभी रस आनन्दमय होते हैं[१७]। नाट्य में

साक्षात्कारकल्पानुभूति होती है। इसीलिये संदर्भों में दशरूपकों को प्रशस्य माना गया है।—सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः[१८]।

प्रकृत में अभिनवाचार्यप्रतिपादित रस का विवेचन अपेक्षित है। मेरी दृष्टि में इस विवेचन के तीन पक्ष हैं—(१) भरत (२) भरतेतर आचार्य और (३) अभिनवगुप्त द्वारा निरूपित रस विचार। द्वितीय पक्ष में उन सभी मतों की समीक्षा अपेक्षित हैं जो ध्वनि या व्यञ्जनावृत्ति को नहीं स्वीकार करते। ऐसे आचार्यों में अभिधावादी विद्वानों के अतिरिक्त वे आचार्य भी आते हैं जो काव्य में रस की प्रधानता, अङ्गिता या अलङ्कार्यता को स्वीकार करते हैं, पर उसकी अभिव्यञ्जना होती है, नहीं मानते। ऐसे में वक्रोक्तिकार कुन्तक और अनुमितिवादी शङ्कुक से लेकर महिमभट्ट तक आते हैं। प्रथमतः यहाँ आचार्य भरत मुनि के रसस्वरूप पर विचार करना चाहूँगा।

भरत का रस सिद्धान्त

नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते[१९] भरत की यह उक्ति और षट्त्रिंशदध्यायात्मक नाट्यशास्त्र का प्रणयन सिद्ध करता है कि, इस विशाल ग्रन्थ का साध्य रसनिष्पत्ति ही है। जैसा कि पूर्वपंक्तियों में कहा गया है आनन्दजनक नाट्य लोक के भावों का अनुकरण है, यह भरत मुनि कहते हैं और इसकी सम्पूर्णता हेतु षष्ठाध्याय में नाट्यसंग्रह का[२०] विवेचन करते हैं। वे इस प्रकार हैं—

रसा भावा ह्यभिनयाः धर्मिवृत्तिप्रवृत्तयः।
सिद्धिः स्वरास्तथातोद्यं गानं रङ्गश्च सङग्रहः॥

रस, भाव, अभिनय, धर्मी, वृत्ति, प्रवृत्ति, सिद्धि, स्वर, आतोद्य, गान और रङ्ग ये नाट्यसंग्रह हैं। अभिनवगुप्त के अनुसार अभिनयत्रय तथा गीतातोद्य युक्त नाट्य पञ्चाङ्ग है। भरत यहाँ कोहल मत से एकादशाङ्गनाट्य की चर्चा करते हैं—अभिनयत्रयं गीतातोद्ये चेति पञ्चाङ्गं नाट्यम। कोहलमतेनैकादशाङ्गत्वमुच्यते न तु भरते[२१]। किन्तु भरत के विवेचन से तो स्पष्ट है कि भरत भी एकादशाङ्ग ही मानते हैं। यहाँ उनका अमिधान शास्त्रकार क्रमव्यत्ययार्थ कर रहे हैं, ऐसा औद्भटजन मानते हैं। यही साधु भी है। उपर्युक्त नाट्याङ्गों में रस ही शिरस्क है। उसके ही लिये सभी का विवेचन है। उपर्युक्त तत्त्वों के सम्यक् ज्ञान और प्रयोग से ही नाट्य की सफलता और रसाविर्भाविता संभव है। अतः सर्वप्रथम उस पर दृष्टि-सन्निपात आवश्यक है। इससे भी पूर्व विवेच्य है नाट्य कहते किसे हैं ? यहाँ अभिनवगुप्त का मत द्रष्टव्य है।

भरतमुनि के कथन—"त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्" की अभिनवगुप्त द्वारा की गयी व्याख्या[२२] में नाट्य को अनुव्यवसाय कहा गया है। रामादि पात्र आगमों में जिस प्रकार वर्णित होते हैं, नाट्य में उस प्रकार विशेष रूप में उपस्थित नहीं होते। वे साधारणीकृत विभाव के रूप में होते हैं। लोकोत्तर रसप्राणात्मकगुणालङ्कारमनोहरशब्दार्थशरीरकाव्य में भी हृदयसंवाद के कारण

निमग्नाकारिका चित्तवृत्ति पैदा होती है किन्तु यहाँ सभी की बुद्धि प्रत्यक्ष साक्षात्कार कल्पा नहीं होती। नाट्य में यह प्रत्यक्षकल्पा होती है। यही दोनों में अन्तर है। प्रेक्षक लोकोत्तर—दर्शनश्रवणबुद्धि से ही नाट्यदर्शन में प्रवृत्त होता है। इसलिये नाट्यप्रयुक्त उचित गीतातोद्य के आनन्द में अपने सांसारिक भाव का वह परित्याग कर देता है। उसका हृदय स्वच्छ दर्पण सदृश विमल हो जाता है। सूच्यादि अभिनयों में उद्भिन्न शोकादि में वह तन्मय हो जाता है। पाठ्यादि आकर्णन द्वारा देश काल विशेषशून्य सम्यक्, मिथ्या, संशय, संभवादि ज्ञान से विज्ञेयत्व परामर्श से रहित राम—रावणादि विषयक अध्यवसाय संस्कार में ही उसकी मति प्रविष्ट हो जाती है, उसी रूप में वह सारे विश्व को देखता है। नाटक प्रत्येक सामाजिक में देश-काल आदि विशेषणे से अपरामृष्ट गीतातोद्यादि संस्कार के द्वारा समानरूप से रसाभिनिवेश कराता है। उससे वह प्रेक्षक विधिनिषेधादिज्ञानपूर्वक शुभाचरण करता है, अशुभ का परित्याग कर देता है। इस प्रकार भावानुकीर्तन रूप नाट्य उपर्युक्त का उपाय है। यही अनुकीर्तन है, अनुव्यसाय है, यही नाट्य है। यहाँ पर अभिवनगुप्त अनुकीर्तन को अनुकार मानने वाले मतों का खण्डन करते हैं। संभवतः आगे रसप्रकरण में शङ्कुक के अनुकरणात्मक सिद्धान्त के खण्डन की मति अभिनवगुप्त यहीं से बना लेते हैं और भट्टतौत के मुख से अनुकरण सिद्धान्त का खण्डन करते हैं[२३]। नाटक में हम देखते हैं कि चैत्र—मैत्र आदि नामों से विशिष्ट नट जब आहार्य तत्त्वों से सज्जित मञ्च पर आता है, तो उसका वह चैत्रादिरूप समाच्छदित हो जाता है और रामादि रूप का उसमें भाव पैदा हो जाता है। रामादि के प्रति हमारे मन में आदरणीयत्वादि भाव पहले से ही विद्यमान रहते हैं, प्रत्यक्षकल्प नाट्य में उसका पुनर्बोध होने से अनुव्यसाय हो जाता है। हृद्यगीतादि से संतृप्त यह अनुव्यवसायधी चमत्कारी होकर चतुर्धाभिनय से हमारे हृदय में अनुप्रविष्ट हो जाती है, रञ्जकसामग्री में लीन हमारा स्वस्वभाव आच्छादित हो जाता है। अपने लौकिक प्रत्यक्षादि संस्कारों की सहायता से नट-ज्ञानसंस्कार के सदृश सहृदय-संस्कार के सहयोग से हृदयसंवाद की तन्मयीभावना के कारण दृश्यमान प्रयोक्ता से जो अनुव्यसाय हममें पैदा होता है वह सुख-दुःकात्मक तत्तत् चित्तवृत्तिसंवलित भी निजसंविदानन्दप्रकाशमय होता है। इसलिये उस समय जो रसना, आस्वादन, चमत्कार, चर्वणानिर्विशेष, भोगाद्यपरपर्याय विचित्र वस्तु प्रतिभासित होता है वही नाट्य है। इसलिये नाट्य अनुव्यसायात्मक अनुकीर्तन, रूषित (मुग्ध) विकल्प संवेदन है क्योंकि तद्वेदनवेद्यता की अनुव्यवसाय कहा जाता है[२४]। अभिनवगुप्त के नाट्य विषयक इस मत को यहाँ दिखाने का दो अभिप्राय है—(१) अभिनवगुप्त नाट्य को क्या समझते हैं और (२) आगे शङ्कुक मत का खण्डन करेंगे, इसकी भूमिका भी वह बना रहे हैं, रसस्वरूप का सङ्केत भी यहाँ द्रष्टव्य है।

रससंपादन ही नाट्य है। नाट्याङ्ग इसमें सहकारी है। अतः, उस पर भरत की क्या मानसिकता है? संक्षिप्त दृष्टि डाल लेनी चाहिये। नाट्य-रस के सन्दर्भ में नाट्याङ्गों का व्युत्क्रम व्याख्यान अपेक्षित है।

रङ्ग—अन्तिम नाट्याङ्ग है किन्तु नाट्य प्रयोग का प्रथम आधार है। नाट्योत्पत्ति के अनन्तर भरतमुनि ने द्वितीय अध्याय में विकृष्ट, चतुरस्र और त्र्यस्र तीन प्रकार के प्रेक्षागृहों की विधि बताई है। इस विधान में प्रमाण—निर्णय, भूविभाग, उपयुक्त नक्षत्रादियोग में सूत्रादि प्रसारण विधि, रङ्गगृह—विभाग, मण्डप—निवेश, स्तम्भादिस्थापन, मत्तवारणी, रङ्गशीर्ष, दारुकर्म, भित्ति चित्रादिकर्मविधानपूर्वक भरत ने ज्ञापित किया है कि रसावेश का प्रथमोपकरण रङ्ग[२५] है। लता—पुष्प पक्ष्यादि चित्रित, समुचित श्रवणोप—भोगयोग्य, नाट्यानुसारी प्रेक्षागृह में प्रविष्ट सामाजिक रङ्गरचना से ही इतना आविष्ट हो जाता है कि लौकिक चिन्ताओं को भूल जाता है। श्रोत्र रसायनीभूत, मृदुन्मन्द्रादि स्वरमूर्च्छनामूर्च्छित, उदञ्चत् सुस्वर सङ्गीत आदि रङ्गविधियाँ अनायास प्रेक्षक को तन्मयीभूत कर देती है। इसलिये रङ्ग के अनन्तर **गान**—रसाभिनिवेश का द्वितीय साधन है। नानारसार्थ योग से गायी जा रही पाँच[२६] प्रकार की ध्रुवागीति को गान कहते हैं। इनमें प्रावेशिकी और नैष्क्रामिकी दो अन्वर्थक हैं। तीसरी ध्रुवा आक्षेपिकी कही जाती है जिसका प्रयोग नृत्य में क्रमोल्लंघनपूर्वक किया जाता है। रङ्गप्रसाद की जननी ध्रुवा प्रासादिकी तथा दोषादि प्रच्छादिनी ध्रुवागीति को आन्तरा कहा गया है। यह ध्रुवागीति ही गान है। नाना प्रकार की प्रकृतियों और पात्रों द्वारा कब कौन सी ध्रुवा प्रयुक्त की जाय, इसका विस्तार नाट्यशास्त्र में द्रष्टव्य है। स्वरतालपदाश्रित गान से शून्य कोई वृत्त हो ही नहीं सकता—नास्ति किञ्चिदवृत्तं हि पदं गानकृताश्रयम्। गान बिना आतोद्य नहीं चल सकता। अतः रसापादक तत्त्वों में **आतोद्य** का अपना स्थान है। तत, अवनद्ध, घन और सुषिर चार[२७] प्रकार के आतोद्यों का भरत ने वर्णन किया है।

तन्त्र्याश्रित को तत, पौष्करहित अवनद्ध, तालोपपन्न को घन और वंशकृत को सुषिर कहते हैं। वैपञ्चिक, वैणविक, वंशवादक, मार्दङ्गिक, पाणविक, दार्दुरिकादि से जो नानादेशश्रित हों, तदनुसार, अलातचक्रप्रतिम कुतप का विन्यास नाट्य में किया जाता है। नानातोद्यसमन्वित, स्वरताल, पदताल, तन्त्रीगतातोद्य विधि को गान्धर्व कहा जाता है। अठाइसवें अध्याय में मुनि ने आतोद्यों का परिकीर्तन तथा उनके वादन की क्रिया—प्रकार को तैंतीसवें अध्याय तथा अन्यत्र भी प्रदर्शित किया है। इनकी सङ्गति दिखाते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं—

नटानां रामादिविशेषरूपतयाशङ्क्यमानानां तन्मयीभावप्रत्यूहभूताशयनिवारणाय, नाथो वनं विशति इत्यादिना तालांशोऽपि प्रयोगं सूत्रात्मकतया समीकुर्वन् स्वरं लयं च स्वप्रेक्षकहृदयं तत्रैवानुस्यूतं तिरोदधत्साम्यंच रागनिबन्धनं विदधद्रसं प्रति परममङ्गलम्[२८]।

आतोद्यादि रसप्रत्यूह के निवारक और रसोपकारी हैं। आतोद्य प्रसङ्ग में ही मुनि ने स्वरों का भी विवेचन किया है।

स्वर—नाट्यशास्त्र में प्रधानतः सात स्वरों की चर्चा है। वे हैं—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद[२९]। ये भी वादी, संवादी, अनुवादी तथा विवादीरूप से चार प्रकार के हैं। इन की श्रुतति—ग्राम—मूर्च्छना जाति, शुद्ध—विकृतत्वादि विषय सङ्गीतज्ञों से ज्ञेय हैं। सप्रपञ्च नाट्यशास्त्र में[३०] द्रष्टव्य है। ताल, घनादि के रूप में यहीं कालविभाग भी द्रष्टव्य है। ध्रुवा, ताल, स्वरादि के संयोग से गान, नृत्यादि विषयों का प्रयोग किया जाता है जहाँ, नानाकरणों, अङ्गहारों का प्रयोग अपेक्षित होता है। हस्त—पादादि के विकल्प से १०८ करणों और ३२ अङ्गहारों का भरत ने विवेचन किया है। इस प्रकार आतोद्य ध्रुवा—चारी आादि के संयोग से सङ्गीत या निर्गीत नृत्यादिप्रयोगपूर्वक नाट्य में रससर्जना की जाती है। भरत का मानना है कि—**गीतवाद्याद्यनिबद्धनाट्य बाह्य तथा स्वच्छन्दगतिचेष्टाजनित अशास्त्रीय होता है**। इस प्रकार नाट्य प्रयोग और रससृष्टि में इनका भारी योगदान है।

सिद्धि—नाट्यज्ञों का नाट्य प्रयोग सिद्ध्यधीन है। प्रयोग देखकर जब सामाजिक आनन्दोदधि में निमग्न हो जाय, पुलकाञ्चित होकर नाट्य की भावना करे, नाट्य की यही सिद्धि है। बागङ्गसत्त्वाश्रया वह सिद्धि दो प्रकार की कही गयी है—दैवी एवं मानुषी[३१]। प्रथम सत्त्वबहुल है, अपर बागङ्गोपेत। सत्त्वबहुला में प्रेक्षक तन्मय होकर रस की भावना करता है। दूसरी में प्रेक्षक तत्तत् रसों एवं प्रकृतियों में स्मितपूर्वक, साधु आदि प्रसन्नता सूचक पदों से, पुलक, रोमाञ्चादि अङ्गोपाश्रित माध्यमों से सन्तोष को सूचित करते हैं। सिद्धियों में विघात भी पैदा होते हैं। भरतों द्वारा, पात्रों द्वारा, प्रयोगविज्ञान दोषों से, छन्द-ताल-ध्रुवा-गीति, अभिनयादि दोषों से सिद्धि विघात होते हैं। इसलिये नाट्य प्रयोगविद् को उनसे सावधान होना चाहिए। इसीलिये भरत ने सूत्रधार, नाट्याचार्य, प्रेक्षक तथा नटादि सभी के स्तर शिक्षाभ्यास आदि के विषय में पर्याप्त चर्चा की है। सिद्धियाँ नाट्य प्रयोग की प्रयोजन-सी हैं, संभवतः इसीलिये भरत ने जैसा कि अभिनवगुप्त कहते हैं, इन्हें नाट्याङ्ग नहीं माना है। ये कोहलाभिप्रेत हैं।

प्रवृत्ति—पृथिव्याः नानादेशवेशभाषाचारवार्ताः प्रख्यापयतीति प्रवृतिः[३२]। यह आवन्ती दाक्षिणात्या और पाञ्चाली तथा औण्ड्रमागधी भेद से चार प्रकार की है। प्रवृत्यन्तर ही भरत देशविभाग[३३] का प्रदर्शन करते हैं और देशाधारित प्रवृत्तियों का उल्लेख करते हैं। यद्यपि उनका देशविभाग बहुत वैज्ञानिक नहीं है तथापि आपका यह कथन नाट्योपयोगी है कि, जिस देश की जैसी भाषा, वेश, भूषादि संरचना हो नाट्य में उसी प्रकार उसे दिखाना चाहिए। मधुकैटभ के संहार में भगवान् हरि विष्णु ने युद्ध में जिन-जिन वृत्तियों से उत्पन्न क्रियायें की उन्हीं को **वृत्ति** नाम दिया गया। वृत्तियाँ नानाभावरसाश्रया होती हैं। उनके चार भेद प्रथित हैं—भारती, सात्वती, कैशिकी एवं आरभटी[३४]। ये क्रमशः, ऋक्, यजुष्, साम तथा अथर्ववेद से उत्पन्न कही गयी हैं।

वाक्यप्रधाना पुरूषप्रयोज्याभारती, सात्वतगुणोपपन्ना सात्वती, श्लक्ष्णनेपथ्याचिता स्त्रीयुता कामोपभोगऋङ्गारापादिकी कैशिकी (भगवान् के केशपाशजन्य[३५] होने के कारण) तथा दम्भाहङ्कारादि समन्वितारभटप्रधाना आरभटी वृत्ति होती है। ऋङ्गारादि[३६] रसोपपादिका इन वृत्तियों को नाट्य-प्रयोग की जननी जानना चाहिए। कब, किससे, कहाँ, किसका प्रयोग हो? नाट्यशास्त्र प्रेक्षणीय है। लोकधर्मी तथा नाट्यधर्मी के रूप में **धर्मी** का द्विधा विभाग किया गया है। नाट्योपात्त समग्रतत्त्व धर्मी हैं। अङ्गलीलादिरहित लोकस्वभावगत धर्म लोकधर्मी कहे गये हैं।[३७] अतिशयप्रयुक्त, वक्रोक्त्यादिसमन्वित, लीलाङ्गहारा—भिनयोपेत स्वरालङ्कारगुम्फित, स्वर्भूरप्राप्त, कृतकशैल यानादि, नर्तनादिव्यापार, सुखापादक पूर्वरङ्ग—विभागादि, समग्र विषय नाट्यधर्मी कहे गये हैं। भरत कहते हैं—स्वभावो लोकधर्मी तु विभावो नाट्मेव हि[३८]। ध्यान देने योग्य है कि अभिनव गुप्त स्पष्टतया प्रतिपादित करते हैं कि यह लोक तथा नाट्य धर्मी ही काव्य में स्वभावोक्ति और वक्रोक्तिरूप में प्रतिष्ठित है[३९]। भामह की अतिशयोक्तिरूपा वक्रोक्ति सर्वालङ्कार[४०] सामान्य और आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त के अनुसार विभावनात्मक है[४१]। दण्डी ने भरतोक्त उभयधर्मिता को लकेर ही वाङ्मय का द्विधा विभाग किया—स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति[४२]। स्वभावोक्ति रससृष्टि का मूलाधार है, इसे हम कुन्तक की दृष्टि में देख चुके हैं। नाट्य में **अभिनय** की प्रधानता होती है। शाखाङ्गोपाङ्गसंयुक्तं नानार्थं अभिमुख्यं नयतीति—के द्वारा अभिनय का अर्थ समझा जा सकता है। अभिनय दो प्रकार का होता है—आहार्य और सामान्य। नेपथ्यजात समस्त विधियाँ आहार्याभिनव में आती हैं। नेपथ्य के चार प्रकार हैं—पुस्त, अलङ्कार, अङ्गरचना और सज्जीव (ना०शा०स/५)। पुस्त के तीन प्रकार है—सन्धिम, व्याजिम और वेष्टिम। प्रथम तो चर्मादितन्त्रोपेत होते हैं, वेष्ट्य को ही वेष्टिम कहा गया है। माल्याभरण और वस्त्रसंपाद्य अलङ्कारों के भी नाना प्रकार भरत मुनि ने बताये हैं। वेष्टिम-वितत-संघात-ग्रन्थिम और प्रालम्बित पाँच प्रकार के माल्य होते हैं। आवेध्य-बन्धनीय-क्षेप्य और आरोप्य अलङ्कारों की चार विधा है। दिव्य-मर्त्य नर-नारियों के रशनाद्यलङ्कारों के साथ भारतस्थ प्रदेशों—आवन्ती, कुन्तल, गौड, आभीर, पूर्वोत्तर दक्षिणादि, उत्तरकुरू, भद्राश्व, पुलिन्द, किरात, बर्बरान्ध्र, काशि-कोशल, दाक्षिणात्य—शक, यवन, पह्लव, बाह्लीक, पाञ्चाल, शूरसेन, महिष, औण्ड्रमगध, अङ्ग-बङ्ग कलिङ्ग आदि देशों के लोगों के वर्ण, आभूषण, वस्त्र, कान्ति, राग, श्मश्रु प्रभृति का, यक्ष-राक्षस-तापसादि, उत्तम-मध्यमाधम प्रकृतियों का समग्र नेपथ्य विधान नाट्यकार ने आहार्याभिनय में सविस्तारतया गुम्फित किया है। ये सभी लोकतथा नाट्य धर्मी आदि रूपों में द्रष्टव्य[४३] है। अभिनवगुप्त कहते हैं—समस्ताभिनयप्रयोग-चित्रस्यभित्तिस्थानीयमाहार्यम्[४४]। आहार्यभिनय समस्त अभिनय प्रयोग रूप चित्र का भित्ति (फलक) स्थानीय है।

सात्त्विकादि विंशति[४५] भाव वाक्यादि षट्शारीरिक भाव, स्वाधीनपतिकादि नायिका वर्ग, सर्वलोकाङ्गनागत्यादिप्रकार, मानावर्जनादि विधि, बाह्य कुलजा तदुत्थ विरहाद्यवस्था, कामदशायें, दूतीप्रयोग, मदनोपचार, प्रियादि प्रतीक्षण-मिलन-सम्भाषण-निवेदन-गोपन-प्रकाशन-प्रभृति भावों का अभिनय जो संख्यातीत हो सकते हैं[४६], आहार्याभिनय के अङ्ग हैं। शारीराहार्यसहजगुणोपपन्न वेशोपचारचतुर वैशिक जन तथा नानागुणोपपन्न दूतीजनों के अभिनय की रसापादान में विशेष सहकारिता होती है। इन सबका विवेचन नाट्य ग्रन्थ के २४वें अध्याय में प्रपञ्चित है। अङ्गाद्यभिनय से अतिरिक्त अभिनयों को चित्राभिनय कहा जाता है, जिसमें वायु-धूलि-दण्ड-छत्र, प्रहरणादि के अभिनय प्रकार गिनाये गये हैं[४७]।

अङ्गनेपथ्य तत्त्वों की व्यञ्जना वाणी से की जाती है। नामाख्यातोपसर्गनिपा-तादिसमन्वित वाचिकाभिनय से वह उत्पन्न होती है। यह पाठ्य का विषय है। संस्कृत-प्राकृत भेद से इसके दो प्रकार कहे गये हैं। संस्कृतपाठ के सन्दर्भ में भरतमुनि ने स्वर—व्यञ्जन, सन्धि-विभक्ति, नामाख्यातादि, तद्धितधात्वादि के ज्ञान की अपेक्षा करते हुए वाचिकाभिनय में सभी छन्द, उनकी जातियों के साथ-साथ काव्यके षट्त्रिशत्लक्षणों, चार अलङ्कारों और गुण दोषों का भी विचार किया है। पन्द्रहवें से अठारहवें अध्याय तक इनको देखना चाहिये। पाठ्यगुणों में, सप्तस्वरों, त्रिस्थानों, चारवर्ण, द्विविध काकुप्रकार, षडलङ्कार और षडङ्गो[४८] की चर्चा की गयी है। नाट्य और काव्य का शरीर इतिवृत्त[४९] होता है। अतः उसका स्वरूप, विभाग और दशरूपकों का ज्ञान इस सन्दर्भ में प्रेक्ष्य है। चतुर्धाभिनयात्मक नाट्य के अभिनयों की अनन्तता है जिसे नाट्य शास्त्र से ही जाना जा सकता है।

भाव-रस

भावों और रसों की चर्चा नाट्य शास्त्र से लेकर दशरूपक, काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण आदि ग्रन्थों में सर्वत्र प्रथित है। नाट्याङ्गों में रस-भाव ही प्रधान है। भावों के विषय में भरतमुनि की उक्ति है—

नानाभिनयसम्बन्धान् भावयन्ति रसानिमान्।
यस्मात्तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः॥
अपि च-कतेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते।[५०]

रत्यादि आठ स्थायी, तैंतीस व्यभिचारी, आठ सात्त्विक कुल मिलाकर मुख्यतः ४९ प्रकार के भाव माने गये हैं। नाट्यशास्त्र के सप्तमाध्याय—भावध्याय में इनकी विस्तृत चर्चा है। भरतमुनि का कथन है—बागङ्गसत्त्वोपेत्तान् काव्यार्थान् भावयन्तीति भावाः[५१]। अभिनवगुप्त इसकी व्याख्या में कहते हैं कि—कोः कवतेर्वा कवनीयं काव्यम्। काव्य कवनीय होता है[५२]। काव्य में पदार्थ और काव्यार्थ का पर्यवसान रसों में ही होता है। अतः उपर्युक्त में काव्यार्थ से तात्पर्य रसों से हैं। यहाँ अर्थशब्द का पर्यवसवान रसों में ही होता है। अतःउपर्युक्त में काव्यार्थ से तात्पर्य रसों से है। यहाँ

अर्थशब्द अभिधेय नहीं हैं। चित्तवृत्तिविशेष भावों को ही यहाँ भाव की संज्ञा प्राप्त है, वे उपर्युक्त ४९ ही हो सकते हैं। ऋतु—माल्यादि विभाव बाह्य होने के कारण बाष्पादि, अनुभाव एकान्तजड होने के कारण भावशब्द वाच्य नहीं होते। भाव काव्यार्थभूत रसों की सृष्टि करते हैं। स्थायी, व्यभिचारी समूहों से ही आस्वाद्य अलौकिक अर्थ निर्वृत होते हैं। भाव पहले स्थायीआदि का अवगम कराते हैं, अनन्तर सर्वसाधारणतया आस्वाद्य होते हैं—काव्यार्थान् रसान् भावयन्ति कुर्वते। स्थायिव्यभिचारिकलापेनैव ह्यास्वाद्योऽ लौकिकोऽर्थो निर्वर्तते। नाट्याङ्गों की इतिवृत्तिता रसों की भावना कराने में है। अत: हम यहाँ भरतोक्त रस प्रक्रिया का संक्षेप में निरूपण करेंगे।

भरत प्रतिपादित रस प्रक्रिया

रसनिष्पत्ति-विषयक भरत का प्रसिद्ध सूत्र है—विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति:। इसके व्याख्याकारों को अभी हम स्पर्श नहीं करेंगे, केवल भरत के मन्तव्य को देखेंगे। इस सूत्र के बाद ही आपका कथन है कि—को दृष्टान्त: ? अत्राह—यथा हि नानाव्यञ्जनौषधिद्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्ति:। तथा नाना भावोपगमाद्रसनिष्पत्ति:। यथा हि—गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यञ्जनैरोषधिभिश्च षाडवादयो रसा निर्वर्त्यन्ते तथा नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति।........रस इतिक: पदार्थ:—आस्वाद्यत्वात्।[५३]

जैसे नानाव्यञ्जनौषधि द्रव्य के योग से लौकिक मधुरादि रसों से भिन्न रसों की निष्पत्ति होती है वैसे ही नाना भावों के उपगम से रस की निष्पत्ति होती है। जैसे गुडादि द्रव्यों, व्यञ्जनों एवं औषधियों के योग से षड्रसों से भिन्न विलक्षण षाडवों की निष्पत्ति होती है उसी प्रकार नाना प्रकार के भावों से रत्यादि भाव रसत्व को प्राप्त होते हैं। अभिनवगुप्त का कथन है कि यहाँ व्यञ्जन में जल ही प्रधानत: रसाभिव्यञ्जक होता है। अत: व्यञ्जन विभावस्थानीय है। चिञ्चा, हरिद्रा आदि अनुभाव स्थानीय, गुडादि द्रव्य व्यभिचारिस्थानीय हैं। समस्त द्रव्यों के संयोग में दक्ष व्यक्ति द्वारा कृतपाकादिजन्य लौकिक रस में जल के समान ही नाट्य में भी स्थायी की स्थिति है। जैसे दार्ष्टान्तिक उपर्युक्त रस सूत्र में विभावादि तीन की उक्ति है, वैसे ही इस व्यञ्जनोदाहरण में भी जानना चाहिए क्योंकि स्थायिग्रहण उभयत्र शल्यभूत हो जाता है। क्योंकि ? इसलिये स्थायी ही तो व्यञ्जित होता है। वह अनभिधेय है।[५४]

भरत कहते हैं कि आस्वाद्य होने के कारण ही विभावादिजन्य रस को रस कहते हैं। जैसे नानाव्यञ्जन से संस्कृत अन्न का भोग करने वाले सुमना पुरुष रसों का आस्वादन करते हैं और हर्षादि को प्राप्त होते हैं उसी प्रकार सुमना प्रेक्षक नानाभाव-अभिनय से व्यञ्जित स्थायीभावों (रसों) का आस्वाद करते हैं, आनन्दित होते हैं। इसलिये इन्हें नाट्यरस कहते हैं—यथा हि नानाव्यञ्जनसंस्कृतमन्नं भुञ्जाना

रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति, तथा नानाभावाभिनयव्यञ्जितान् वागङ्गसत्त्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति। तस्मान्नाट्यरसाः[५५]। इस सन्दर्भ में अभिनवगुप्त का कथन है कि नाट्यरसास्वादन रसनाव्यापार न होकर पूर्ण मानसास्वाद है। लौकिक प्रत्ययों में उपार्जनादि विघ्न बहुलता, विषयास्वाद शून्यता, रुक्षतादि का योग होता है किन्तु नाट्य में भावों और अभिनयों द्वारा जो रसास्वाद होता है उसमें हृदयसंवादक्रम से तन्मयीभावापन्न प्रमाता की भूमि से अभिन्नता को प्राप्त स्थायी रूप निर्विघ्नतया साधारणीभावापत्ति समन्वित स्वपरविवेकशून्य स्वादचमत्काराधीनता के कारण, सुखदुःखादिविचित्रवासनानुवेध हो जाने से, प्राप्त हृद्यतातिशयचर्वणारूप संवित् का ही भोग किया जाता है। इसलिये इन्हें नाट्यरस कहते हैं। काव्य में भी रस नाट्यायमान ही होता है[५६]। काव्यार्थविषये हि प्रत्यक्षकल्पसंवेदनोदये रसोदय इत्युपाध्यायाः (पृ० २९०)।

नाट्यरस के सन्दर्भ में यही अभिनवगुप्त स्पष्ट करना चाहते हैं कि दशरूपक का जो अर्थ (रस) है वही नाट्य है। हृदय संवाद की तरतमता के कारण श्रोता या प्रतिपत्ता में वैचित्र्य का स्फुटत्वास्फुटत्व पाया जाता है। वह कहते हैं—ये स्वभावतो निर्मलमुकुरहृदयास्त एवं संसारोचितक्रोधमोहाभिलाषपरवशमनसो न भवन्ति। तेषां तथाविधदशरूपकाकर्णनसमये साधारणरसनात्मकचर्वणाग्राह्यो रससञ्चयो नाट्यलक्षणः स्फुट एव। ये त्वतथाभूतास्तेषां प्रत्यक्षोचिततथाविधचर्वणालाभाय नटादिप्रक्रिया। यहाँ अभिनवगुप्त विमल हृदय में काव्य से भी रूपकात्त रस प्रक्रिया का सन्देश दे रहे हैं, यह विभावनीय है। नट रसास्वाद का उपाय है। इसलिये उसे पात्र कहते हैं—नटे तर्हिकिम्? आस्वादनोपायः। अत एव च पात्रमित्युच्यते।

भावों के सम्बन्ध में भरतमुनि का कथन है कि जैसे बीज से वृक्ष, वृक्ष से पुष्प, पुष्प से फल होते हैं उसी प्रकार सभी भाव रसमूल हैं। उन्हीं से भावों ही व्याख्या है[५७]। इस कारिका की व्याख्या में अभिनवगुप्त का मानना है कि जैसे वृक्ष-मूल में बीज अवस्थित है वैसे ही रस भी सभी के मूल में है। काव्य में कवि जिस भावना का विन्यास करता है उससे साधारणीभूत नटव्यपार ही नाट्य है। साधारणीभूत वह संवित् या भावना ही परमार्थ में रस कही जाती है[५८]। इस प्रकार कविगत रस बीजस्थानीय मूल है। कवि भी सामाजिक तुल्य ही होता है। अन्तर यह है कि वह रामादिगत भावों को साक्षात् करता है, तन्मयीभूत होकर उसे काव्य में निबद्ध करता है, नट उससे अभिन्न होकर सामाजिक की बुद्धि में उसे उतार देता है। इसलिये—वृक्षस्थानीयं काव्यम्, पुष्पादिस्थानीयोऽभिनयादिव्यापारः, फलस्थानीयः सामाजिक रसास्वादः, तेन रसमयमेव विश्वम्[५९]। ध्यान देने योग्य है कि परममाहेश्वर अभिनवगुप्त सबमें शिववृत्ति देखने के अभ्यासी हैं। रत्यादिशक्तियाँ उन्हीं से उद्भूत होती हैं। स्थायी शिव, शिवस्थानीय है। अतः सबके भावों के मूल में वही स्थित हैं[६०]। भावादि की चर्चा यथावसर होती रहेगी। रस-निष्पत्ति के सन्दर्भ में यहाँ आलङ्कारिक आचार्यों के मतों को संक्षेप में रखना उपयुक्त होगा।

भरतेततर आचार्यों की दृष्टि में रस

भामहादि प्राचीन आलङ्कारिक काव्य में अलङ्कारों की प्रधानता स्वीकार करते[६१] हैं। शोभाकर समस्त तत्त्व अलङ्कार होते हैं। अतः रस भी उनके लिये एक अलङ्कार है—रसवत् जो इतर अलङ्कारों के समान वाच्य ही होता है। ये अभिधावादी हैं। भट्टलोल्ट मानते हैं—विभावादि का स्थायी से संयोग होने पर रस की उत्पत्ति (निष्पत्ति) होती है। भरत सूत्र में विभाव पद आलम्बन और उद्दीपन दोनों के लिये प्रयुक्त है। वे स्थायी रूप चित्तवृत्ति की उत्पत्ति के कारण होते हैं। स्थायी भावों के जो अनुभाव हैं, अश्रुपातादि उन्हें कारण या हेतु नहीं कहा जा सकता। व्यभिचारी भाव भी यद्यपि चित्तवृत्तिरूप ही होते हैं तथापि स्थायी के साथ उत्पन्न न होने वाले उसी की वासना के रूप में होते हैं। विभावादि से उपचित या परिपुष्ट स्थायी ही रस है। वह दोनों में ही उपचित होता है। मुख्यवृत्ति से अनुकार्य रामादि में और गौणवृत्ति से अनुकर्ता नट में। प्राचीनों का भी यही[६२] पक्ष है। दण्डी ने भी कहा है—रतिः शृङ्गारतां गता रूपबाहुल्ययोगेन। अधिरुह्य परां कोटिं कोपो रौद्रात्मतां गतः[६३]।

भामह ने रसवद्दर्शितस्पष्टशृङ्गारादिरसं यथा[६४] कहकर शृङ्गारादि रस के स्पष्ट दर्शन-कथन को रसवत् तथा प्रियतराख्यान को प्रेयोलङ्कार माना है। उद्भट ने स्पष्ट किया कि अनुभावादि के माध्यम से रत्यादि भावों से युक्त जो काव्य निबन्धित किया जाता है, उसे प्रेयस्वत् कहते हैं। शृङ्गारादि का स्पष्ट रसोदय रसवत् है[६५]। उद्भट का लक्षण अधिक स्पष्ट है। प्रतिहारेन्दुराज ने उसकी टीका में रत्यादि के परिपोष को रसवत् कहकर उद्भट के मत को और स्पष्ट किया है। उद्भट ने इन्हें अभिनयास्पद, विभावादिसंपुष्ट और नाट्यवर्ती तथा शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत और शान्त रूप में नवसंख्यक माना है। प्रतिहारेन्दुराज कहते हैं कि उद्भट रसों को पञ्चरूप मानते हैं—शृङ्गारादि रसरूप, रसों के उपादान कारणभूत नव स्थायी, रसों के अवस्था विशेष निर्वेदादि व्यभिचारी, कारण भूत विभाव और आङ्गिकादि चार अभिनय—यदुक्तं भट्टोद्भटेन पञ्चरूपा रसाः[६६]। इस प्रकार जहाँ शृङ्गारादि रस का आविर्भाव हो वह काव्य रसवत् है, रस उसके अलङ्कार हैं—शृङ्गारादि रसाविर्भावो दर्श्यते तत् काव्यं रसवत् रसाः खलु तस्यालङ्कारा[६७]। आचार्य दण्डी भी प्रियतराख्यान को प्रेय, रसपेशल को रसवत्, रूढाहङ्कार को ऊर्जस्वि अलङ्कार मानते हैं—

प्रेयः प्रियतराख्यानं रसवद्रसपेशलम्।
ऊर्जस्वि रूढाहङ्कारं युक्तोत्कर्षंच तत् त्रयम्[६८] ॥

तीनों अलङ्कारों में भावों का चरम उत्कर्ष होता है।

अग्निपुराणकार का कथन है कि, परब्रह्म, सनातन, अक्षर, विभु, अज परमात्मा वेदान्त में चैतन्य प्रकाश कहा गया है। जब कभी उसका सहज आनन्द व्यञ्जित होता है तो चैतन्य चमत्कारापादक उसकी वह व्यञ्जना ही रस कही जाती है। उसका प्रथम

विकार अहंकार कहा जाता है। अभिमानास्पद उस अहङ्कार से व्यभिचार्यादि के द्वारा जब रति परिपुष्ट हो जाती है तो शृङ्गार बन जाती है। अन्य हास्यादि रस भी उसी के भेद हैं। राग में शृङ्गार, तीक्ष्णता से रौद्र, अवष्टम्भ से वीर, संकोच से बीभत्स रस पैदा होता है। शृङ्गार से हास, रौद्र से करुण, वीर से अद्‌भुत और बीभत्स से भयानक रस बनता है। इस प्रकार शृङ्गार, हास्य, करूण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्‌भुत और शान्त नौ रस होते हैं। स्वभावत: प्रथम चार ही रस हैं, अन्य उसी से जनित हैं। कवि ही अपार काव्यसंसार का प्रजापति है, जैसा चाहे विश्व का निर्माण कर दे। कवि शृङ्गारी हो तो जगत् ही रसमय हो जाय, वीतराग हो तो सुतरां नीरस। रस भावहीन नहीं होता, भाव रस विवर्जित नहीं। भावों से रस भावित होते हैं रसों से भाव[६९]। इस प्रकार अग्निपुराण के विवेचन में दण्डी, ध्वनिकार, नाट्यशास्त्रकार सभी का प्रभाव दृष्टिगत होता है। यही नहीं यह विवेचन अभिनवगुप्त तथा आगे पं० राज के विवेचन से भी समानता रखता है।

भोजराज के सरस्वतीकण्ठाभरण और शृङ्गारप्रकाश में निरूपित रस-विवेचन का स्वरूप दण्डी और अग्निपुराण की प्रक्रिया की भोजकृत अपनी व्याख्या ही है जिसका सम्यक् विवेचन डॉ० वी० राघवन् ने अपने शोध-प्रबन्ध में किया है, वहीं देखना चाहिये[७०]। वामन कान्ति नामक अर्थगुण में रस का परिपोष देखते हैं[७१]। सरस काव्यों से चतुर्वर्ग का अवगम आसान हो जाता है इसलिये कवि को रसाहित काव्य का ही निर्माण करना चाहिये ऐसा कहकर रूद्रट अग्निपुराणोक्त पूर्वोल्लिखित नौ रसों में दशम प्रेयान् रस को जोड़ देते हैं। रसों के लक्षणार्थ लिखते हैं—रसनाद्रसत्वमेतेषां मधुरादीनामिवोक्तमाचार्यै:। लोल्लट, भामह, दण्डी से लेकर पूर्वोक्त सभी आचार्य रत्यादि की परिपुष्टि को ही रस मानते हैं। ये वे आचार्य हैं जो अभिधावादी हैं। रत्यादि के परिपोष को रस कहते हैं, और जिनको मम्मट, 'सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरोऽभिधाव्यापार:' इस मत का मानते हैं। दशरूपककार[७२] धनञ्जय भी इसी कोटि में आते हैं।

आचार्य कुन्तक ने भामह की वक्रोक्ति के आधार पर ध्वनि विरोध में एक नया कविप्रस्थान प्रस्तुत किया—वक्रोक्तिसिद्धान्त का। वैदग्वध्यभङ्गीभणिति वक्रोक्ति-विंशिष्ट प्रकार की अभिधा है—विचित्रैवाभिधा वक्रोक्ति:। वही काव्य का जीवन है। इसके छ: प्रकार की वक्रताओं में समग्र ध्वनि प्रपञ्च समाहित हैं। सुकुमार, विचित्र, मध्यमात्मक त्रिविधमार्गों में सभी सुन्दर हैं। प्रथम रसनिर्भरषट्पदभ्रमरकविसेवित है। भरतोक्त लोकस्वभाव ही काव्य की स्वभावोक्ति है, वह अलङ्कार न होकर काव्य का शारीरकल्प और अलङ्कार्य है[७३]। ध्वनिकार का ललनालावण्यप्रख्य प्रतीयमानार्थ प्रकारान्तर से सुकुमार मार्ग से ज्ञेय है। यह रसप्लुत है—रसादि परमार्थज्ञमन:संवादसुन्दर[७४]। कुन्तक अभिधावादी हैं द्योत्य, व्यंग्यार्थों को भी वाच्य ही मानते हैं क्योंकि अर्थप्रतीतिकारित्वसामान्यादुपचारात्तावपि वाचकावेव[७५]। तथापि, रसों को वह अलङ्कार्य ही मानते हैं—शृङ्गारादिरेव प्राधान्येन वर्ण्यमानोऽ लङ्कार्य:[७६]। दण्डी

के समान ही रसोद्दीपन—परिपोष में ही वह रसनिष्पत्ति स्वीकार करते हैं—रसा: श्रृङ्गारादयस्तेषामुद्दीपनमुल्लासनं परिपोष:[७७]। इसीलिये भामहादि के रसवत् का खण्डन कर कहते हैं कि —जो रूपकादि अलङ्कार रस के तुल्य हों वह रसवत् है या जहाँ रसवत्ता का विधान हो वह काव्य रसवत् है। कुन्तक का रस विवेचन पदार्थवक्रता तथा वाक्यवक्रता के सन्दर्भ में प्रेक्षणीय है[७८]। चित्र, फलकाद्युपकरण और चित्रकार में जैसे चित्रकार की भूमिका ही सर्वतोमुखी प्रधान होती है वैसे ही काव्य में काव्य, काव्यतत्व और कवि में कविकौशल ही विजृम्भणीय और सर्वस्वायमान होता है। ऐसी अवधारणा कुन्तक की[७९] है। कुन्तक का रसविवेचन यद्यपि अभिधापरक है, परन्तु उस अभिधा में व्यञ्जना भी समाहित है। अत: वह अभिनवगुप्त और ध्वनिकार की रसविवेचना की स्मृति दिलाता है और लगता है कुन्तक अनजाने ही ध्वनिवादियों की बात स्वीकारते हैं।

रस को वाच्य तथा 'यावत् कार्यप्रसारित्वात्तात्पर्यं न तुलाधृतम्' को मानने वाले धनञ्जय तथा धनिक का रस विवेचन भट्टलोल्लट, शङ्कुक और भट्टनायक से प्रभावित है। अत: पृथग्विवेच्य नहीं है। भट्टलोल्लट के सिद्धान्त पर जो आपत्तियाँ शङ्कुक के माध्यम से अभिनवगुप्त ने उठाई हैं या जिन्हें आज उठाया जाता है, मूलग्रन्थ तथा अन्यत्र भी देखा जा सकता है[८०]। श्री शङ्कुक का मानना है कि—अनुकर्ता नट में अवस्थित प्रयत्नार्जित कृत्रिम विभावादि रूप लिङ्ग से मुख्य रामादिगत स्थायी का अनुकरण रूप प्रतीयमान—अनुमीयमान रत्यादि स्थायी भाव ही रस हैं। अनुकरण रूप होने के कारण ही इन्हें स्थायी न कहकर रस का अभिधान दिया जाता है। कृत्रिम भी नटराम में 'मणिप्रदीपप्रभान्यायं'[८१] से संवादी भ्रम पैदा होता है। अत: चित्रतुरगन्याय द्वारा उसमें सम्यक्, मिथ्या, संशय, सादृश्य प्रतीतियों से विलक्षण लोकोत्तर प्रतीति होती है। अनुमान होने पर भी यह अनुमान अन्यानुमान विलक्षण होता है।

इस मत पर उपाध्याय भट्टतौत के मुख से अभिनव ने आपत्तियाँ उठाई हैं। आपका कथन है कि रस अनुकरणात्मक है यह कल्पना (१) सामाजिक की प्रतीति के अनुसार, (२) नटाभिप्राय, (३) व्याख्याताओं की दृष्टि से अथवा (४) भरतमुनि के अनुसार कही जा रही है। कोई वस्तु पूर्वत: किसी प्रमाण से उपलब्ध हो तो अनुकरण की बात बनती है। मुख्य वस्तु के दर्शनान्तर ही उसके अनुकरण का प्रश्न उठता है। नट रामानुकार है किसी भी दृष्टि से मान्य नहीं हो सकता। अतत्कारणादिरूप विभावादि सामाजिक को प्रतीत होते नहीं, प्रतीत हों तो रसग्रह नहीं होगा? अनुमिति अनुकरणबुद्धि का हेतु हो नहीं सकती क्योंकि सामान्य जन प्रसिद्ध हेतुओं से ही अनुमान कर सकता है। सामाजिक नट को रामादि के समान न क्रुद्ध आदिरूप में देख पाता है, न ही उसकी दृष्टि भावशून्य होती है। नर्तक में रामादि की बुद्धि सामाजिक रखता ही है। अत: सामाजिक अभिप्राय से अनुकृति पक्ष ठीक नहीं है। नट को भी यह प्रतीति नहीं होती है कि वह राम या उनकी चित्तवृत्ति का अनुकरण कर रहा है। अनुकरण के सदृशकरण या पश्चात्करण दोनों ही अर्थ नट में

इसलिये नहीं लागू होते क्योंकि राम की वृत्ति पहले से किसी ने उपलब्ध नहीं की है। ऐसा कोई आधार नहीं बन पाता जिससे सिद्ध हो सके कि नट रामादि की प्रकृति का, चेष्टाओं का या तत्संवादीभूत अनुभावों का अनुकरण करता है। भरत ने भी कहीं नहीं कहा कि—स्थाय्यनुकरणं रसाः। यह भी नहीं मिलता कि उन्होंने रस के लिये विभावादि को लिङ्ग माना है। वस्तुवृत्तिविवेचक व्याख्याता के आधार पर भी अनुकरणता नहीं बनती क्योंकि जो वस्तु अनुसंवेद्यमान, अनुकीर्तन या अनुव्यसाय हो, जैसा कि नाट्य सन्दर्भ में अभिनव के मत को दिखाया गया है, उसे अनुकरण कैसे कहा जा सकता है[८२]। अभिनवगुप्त ना०शा० की अ०भा० में इस पर विस्तार से चर्चा करते हैं, सभी का उल्लेख यहाँ असम्भव है।

अभिनव का एक कथन यहाँ विचारणीय है कि रामादि की वृत्ति को पूर्व से किसी ने देखा नहीं है फिर अनुकरण कैसे बनेगा? अभिनवगुप्त अनेकशः मानते हैं कि कवि अपनी अलौकिक प्रतिभा द्वारा रामादि के वृत्त का साक्षात्कार करता है, कवि निबद्ध रामादि की वृत्तियों का काव्य, नाटक, शिक्षाभ्यास के द्वारा नट भी साक्षात्कार करता है, अभिनयादि के माध्यम स्वयं पात्रीभूत वह उसी को प्रमाता की बुद्धि में उड़ेल देता है। प्रमाता उससे अभिन्न होकर रसास्वाद करता है—**कविसाधारणीभूत संविन्मूलश्च काव्यपुरस्सरो नटव्यापारः। सैव च संवित्परमार्थतो रसः**[८३]। ऐसी दशा में रामादि की संवित् का नटादिगत अनुकरण है या नहीं सहृदय ही विचार कर सकते हैं। प्राचीन न्याय की प्रक्रिया के अन्तर्गत प्रत्यभिज्ञा के आधार पर डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने श्री शङ्कुक के मत की सङ्गति करने की चेष्टा की है।

अनुमितिवादी महिमभट्ट रसादिरूप अङ्गी के प्रति कोई विरोध प्रकट नहीं करते पर रस को वह भी अनुमेय ही मानते हैं। उन्होंने शङ्कुक के अनुमितिवाद का दोषपरिमार्जन पूर्वक समर्थन किया और ध्वनि का अनुमान में अन्तर्भाव दिखाया। जिन युक्तियों से आनन्दवर्द्धन तथा अभिनवगुप्त ने रस को व्यङ्ग्य कहा था उन्हीं की उन्हीं युक्तियों द्वारा महिम ने रस की अनुमेयता सिद्ध की। डॉ० बी०एम० चतुर्वेदी ने अपने ग्रन्थ महिम भट्ट में इस पर पूर्ण प्रकाश डाला है। आचार्य रुय्यक ने महिम भट्ट के विवेचनों की यथावसर समुचित व्याख्या और मम्मट का अनुगमन करते हुए खण्डन भी किया है। हम इसे यहीं छोड़ते हैं[८४]।

अभिनवभारती में सांख्यमतानुसारी एक मत दिखाया गया है जिसका तात्पर्य है कि सुखदुःखात्मक विभावादि सामग्री रस में बाह्य पदार्थ है। रस सुखदुःखस्वभाव है। स्थायीभाव सुखदुःखस्वभाव, आन्तर तथा बाह्य विभावादियों से जन्य है। अभिनव ने इस मत को भरत के स्थायिभावान् रसत्वमुपनेष्यामः इस कथन के विरुद्ध कहकर अनादृत कर दिया है। इस मत में प्रतीति विषयतादि अनेक प्रसङ्गों की आपत्ति का भय है[८५]।

आचार्य भट्टनायक ने रस को प्रतीति, स्मृति, अनुमानादि से विलक्षण बताते हुए उसकी अनुमिति, अभिव्यक्ति या उत्पत्ति के सिद्धान्त का खण्डन कर अपने मत की स्थापना की है। उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने सर्वप्रथम साधारणीकरण की प्रक्रिया का उल्लेख किया। उनका कथन है कि ब्रह्मरूपी नट से उपरचित, राम रावणादि की चेष्टाओं से युक्त, असत्य भी अपूर्व अद्‌भुत वृत्ति-नाट्य, कल्पनामात्रसार, तथा अनवस्थितैकरूप होने पर भी स्वप्नादि विलक्षण-सा हजारों कल्पनाओं में पल्लवित होकर क्षणभर में ही हृदय-सुख का निदान बन जाता है। उस प्रकार से असत्यभूत जगत् के समान भासमान होने पर भी वह पुरुषार्थोपयोगी होता है। यह वैसे ही है जैसे यह विश्व असत्य नामरूप प्रपञ्चात्मक होने पर भी श्रवण मननादि द्वारा परम पुरुषार्थ का प्रापक होता है। नाट्य भी लोकोत्तर परम पुरुषार्थ सूचक है, पर्यवसान में शान्त रस का आक्षेप करता है। भरत मुनि का भी यही मत है—स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्तादुत्पद्यते रसः[८६]। डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय इस विवेचन के आधार पर भट्टनायक के मत को वेदान्तानुप्राणित मानते हैं।

भट्टनायक ने स्पष्ट किया है कि कैसे नाटक में साधारणीकरण होता है? और कैसे दुःखादि प्रधान भी नाटक सुखद आनन्दजनक होता है। इसके लिये उन्होंने अभिधा से ही सम्बन्धित काव्य की दो नयी वृत्तियों की कल्पना की—भावना और भोग। काव्य में शब्दार्थ के माध्यम से, नाटकादि में चतुर्विधाभिनय से वस्तु प्रस्तुत की जाती है। वह रामादि विशेषरूप होती है। प्रेक्षक सामाजिक से उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता है। अनिधा के ही द्वितीय अंश भावकत्व व्यापार से व्यक्ति प्रमाता का अपना स्वपर का मोह नष्ट हो जाता है और सीतात्वादि विभाव साधारणीकृत हो जाते हैं। कान्तात्वादि सामान्य प्रतीत होने लगते हैं। रत्यादि स्थायी भाव रूप रस भावकत्व व्यापार से भावित हो जाता है। भाव्यमान रस का, भोग नामक व्यापार से, परं भोग आस्वाद किया जाता है। इस दशा में रजस् तथा तमोगुण का अभिभव हो जाता है। आनन्द के कारण चित्त में यथाविभावादि द्रुति, विस्तार, विकास, विक्षोभ का उदय होता है। प्रमाता की अपनी संवित् सत्त्व के उद्रेक के कारण प्रकाश—आनन्द रूप में विश्राम पाती है, जिसमें परम ब्रह्मास्वाद का आस्वाद होता है। यह आस्वाद्यमान रस अनुभवस्मृत्यादि विलक्षण होता है। इसकी दार्शनिक व्याख्या डॉ० पाण्डेय ने प्रस्तुत की है[८७]। नोली के अनुसार भट्टनायक का मानना है कि रस एक ऐसा आनन्द है जिसका किसी व्यक्ति के साथ सम्बन्ध नहीं है। कला द्वारा अनुभव किया जाने वाला स्थायी भाव नितान्त निर्वैयक्तिक रूप में अनुभव किया जाता है[८८]।

भट्टनायक[८९] के मत की साधारणीकरण की प्रक्रिया को मानते हुए भी अभिनवगुप्त ने संक्षिप्त आलोचना की और भावना-भोग व्यापार को उन्होंने तथा पं० राज जगन्नाथ ने भी व्यञ्जना से अतिरिक्त नहीं माना। अभिनवगुप्त लोचन में कहते हैं।

भोगीकरणव्यापारश्च काव्यस्य रसविषयो ध्वननात्मैव, नान्यत् किञ्चित्। भावकत्वमपि समुचित—गुणालङ्कारपरिग्रहात्मकमस्माभिरेव वित्तत्य वक्ष्यते। इति त्र्यंशायामापि भावनायां करणांशे ध्वननमेव निपतति। भोगोऽपि....... लोकोत्तरे ध्वनन व्यापार एव मूर्धाभिषिक्तः। भावकत्व व्यञ्जना से अविशिष्ट है, भोग ध्वनि से, यही अभिनवगुप्त को मान्य है।

अभिनवगुप्त आनन्दवर्द्धन के अनुयायी हैं। आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा-काव्यस्यात्मा ध्वनिः, माना और रस, वस्तु, अलङ्कार त्रिविध प्रधान ध्वनियों में रस को ही प्रधान स्वीकार किया। अलङ्कारवादियों के अभाव—भक्तिवाद का खण्डन कर आपने अभिधादित्रितयोत्तरवर्ती ध्वनि व्यापार को मानकर रस को सर्वथा व्यञ्जनावृत्तिगम्य ध्वनिस्वरूप स्वीकार किया। अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनियों में आपने रस को विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के एक भेद असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि के रूप में प्रतिष्ठित किया जो—स्वप्नेऽपिन वाच्यः की स्थिति में होता है। ध्वन्यालोक की लोचन टीका में अभिनवगुप्त ने यथास्थान ध्वनि का समर्थन किया और प्रतिपक्षमतनिरासपूर्वक रस का निरूपण भी किया। अभिनवगुप्त रस विवेचन में अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की भूमिका को नकारते नहीं हैं क्योंकि सोपान तो वही है। आप की रस विवेचना शैवागम प्रभावित मानी जाती है। दर्शन पर अधिक बल न देते हुए मैं संक्षेप में यहाँ अभिनव की रस प्रक्रिया का विवेचन करूँगा।

अभिनवगुप्त दशरूपकों में रस को प्रत्यक्षायमाण मानते हैं। साथ ही काव्य को भी दशरूपकात्मक ही मानते हैं, अभिनवभारती के प्रारम्भ में और ना०शा० षष्ठ अध्याय की टीका में तथा लोचन में भी उन्होंने इस तथ्य को स्वीकार किया है[१०]। नाट्य और रस के विषय में अभिनवगुप्त की दृष्टि को जानने के लिये ना०शा० के द्वितीय अध्याय के प्रारम्भ में उनकी भावना को देखना आवश्यक है—

ब्रह्मेव कविः, शक्र इव प्रयोजयिता, भरत इव नाट्याचार्यः कोहलादय इव नटाः, अप्सरस इव सुकुमारोपकरणं, स्वातिरिवानद्धवित्, नारदवद्गीतज्ञः, सुरक्षितो मण्डपः, इन्द्रोत्सव सदृशः प्रयोगकालः, प्रशान्तरागद्वेषादिकाः सामाजिकाः, देवतापूजनपूर्वक प्रयोगः[११]।

इन पंक्तियों में रसापादनार्थ कवि, प्रयोक्ता, नट, गीतादि विधान, प्रेक्षागृह, प्रयोगावसर और सामाजिक की भूमिका को प्रधानोपकरण माना गया है। इसलिये अभिनव के रस विवेचन में इनकी प्रमुख भूमिका है। कवि नाटक-काव्य का प्रजापति है। 'शृङ्गारी चेत्कविः' आदि आनन्दवर्द्धन की उक्ति के अनुसार कवि का रसिक और विदग्ध होना आवश्यक है। रसों की भावना में कवि, नट और सामाजिक तीनों की हृदय व्याप्ति होनी चाहिए। जबतक कवि और नट दोनों में उनसे प्रयुज्यामान काव्यादि द्वारा सामाजिक में अपने हृदय में परिव्याप्त रस-विकास[१२] से प्रफुल्ल उद्दाम चमत्कार पवित्रता न हो जाय तब तक कोई भी प्रयोग उपादेय नहीं हो सकता।

सोत्साहपरिषदा कृतसम्मानस्य सम्यक् प्रयोगनिष्पत्तिः[९३] इत्यादि कथनों द्वारा अभिनवगुप्त ने सामाजिक की भूमिका को भी रसप्रीति में प्रमुख माना है। इसलिये वह बराबर **अधिकारी चात्र विमलप्रतिभानहृदयः**[९४] की चर्चा करते हैं। काव्याभ्यास, प्राक्तनपुण्यपरिपाक से जो सहृदय हो जाते हैं, काव्यार्थ की प्रत्यक्ष भावना करने में वे ही समर्थ होते हैं[९५]। जो स्वभावतः निर्मलमुकुरहृदय हैं, सांसारिक क्रोध-मोहादि से वे सामान्यतः पराभूत नहीं होते, साधारणीभूत रसनात्मक चर्वणागम्य रसस्वरूप नाट्य उन्हीं को स्फुट होता है। इसलिये रसानुभूति के लिये योग्य प्रमाता या अधिकारी का होना आवश्यक है

अधिकारी प्रमाता के साथ ही सृजन में लीन अपार काव्यजगत्—**प्रजापति कवि** का भी प्रजापति समान होना आवश्यक है। वर्णनानिपुण होना ही कविकर्म की इयत्ता है क्योंकि ऐसा कवि स्वयं रससमाहित होता है—कविगतसाधारणी-भूतसंविन्मूलश्च काव्यपुरः सरो नटव्यापारः, सैव च संवित् परमार्थतो रसः[९६]। जबतक कवि परिपूर्ण घट के समान स्वयं छलकता नहीं तबतक परमार्थ सार का प्रकाशन सम्भव नहीं—यावत्यपूर्णो न चैतेन तावन्नैव वमत्यमुम्[९७]। कविगत साधारणीभाव ही काव्य में, सामाजिक में संक्रान्त होता है। इसमें उसकी प्रतिभा ही प्रधान है। अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा ही प्रतिभा है। रसावेश की विशदता से परिपूर्ण सुन्दर काव्यनिर्माण की शक्ति ही उसकी विशेषता है। वह प्रतिभा ही परमभट्टारक भगवान् शिव की शक्ति है जिसके उन्मीलन मात्र से क्षण में ही विश्व का उन्मीलन हो जाता है—यदुन्मीलनशक्त्यैव विश्वमुन्मीलतिक्षणात्। यही चिति है, आत्मा है। कविप्रतिभा विश्वप्रतिभा का ही एक रूप है। जो शिवस्वरूप उन्हीं की तृतीय नेत्र है[९८]। इसलिये विश्वप्रतिभा स्वरूप कवि जब कोई सर्जना करता है तो वह सृष्टि या रचना अपूर्व रसाविष्ट शिवात्मक स्वात्मविश्रन्तिस्वभाव स्वतन्त्र शिव-ब्रह्मानन्द स्वरूप होती है जिसमें कवि-नट-श्रोता समानरूप से निमग्न होते हैं—नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः। इस प्रकार अभिनवगुप्त के अनुसार रसानुभूति के लिये प्रतिभायुक्त कवि, तन्निर्मित उदात्त रचना और योग्य प्रमाता का होना आवश्यक है।

रस के विषय में अभिनवगुप्त की दार्शनिक पृष्ठभूमि को संक्षेप में अ०भा० के आधार पर जान लेना चाहिये। प्रथम तो यह कि शिव स्वयं स्थायी है—स्थायी शिवश्चेतसि तेन वृत्तिः कृता[९९]। अन्तःप्रकाश विभावरूप, महानुभाव रसमात्रमूर्ति, प्रसन्नहृदय, व्यभिचारिरूप वही स्थायी त्रिनेत्रशिव प्रबुद्धकवि तथा नट के हृदय में, आनन्दोमुख प्रमाताजन में प्रकाशित होते हैं[१००]। चितिशक्तिगणों की भूमिविभागभाजन वही संवादक्रम से तन्मय सहृदय जनों को हर्षोल्लसित तथा परमानन्द से युक्त करते हैं। षट्त्रिशंकात्मक जगत् जिनकी आकाशाभास संचित् का रूप है, स्वयं शब्दार्थ[१०१] स्वरूप उससे भी परे वह शिव स्वतन्त्र, नित्य, विमर्श, आनन्द[१०२], आत्मविश्रान्त स्वभावाह्लाद युक्त है। वह स्वयं रसस्वरूप हैं। रस ही अभिनव का प्रतिपाद्य है। शक्ति, ज्ञान, क्रिया,

आनन्द और चितिस्वरूपा अपनी पाँच प्रमुखशक्तियों से वह नाना क्रीडायें करते हैं। प्रतिभापरपर्याय अपनी चितिशक्ति से ही वह जगदुन्मीकन-निमीलन करते हैं। वही—गर्भीकृतान्तर्विश्वः निखिलवाच्यवाचककलापः[१०३] है। इसलिये रसभोग अन्तःप्रकाश आनन्दस्वरूप शिव की अवस्था है।

रसप्रक्रिया में अभिनवगुप्त कहते हैं, जब कोई विमल प्रतिभानशालिहृदय प्रमाता, 'ग्रीवाभङ्गाभिरामम्' या 'उमापि नीलालकमध्यशोभि' आदि वाक्यों को पढ़ता या सुनता है तो वाक्यार्थप्रतीति के अनन्तर उसके मन में उस चित्र की एक प्रत्यक्षात्मक प्रतीति उत्पन्न हो जाती है। काव्य की शक्ति अभिनय या अभिव्यञ्जना की महिमा ऐसी होती है कि इस मानसी प्रत्यक्षप्रतीति में देश-काल-पात्र आदि का भान नहीं रहता या उसका परिहार हो जाता है। उस प्रतीति में देश-कालविवर्जित केवल भय, या रति मात्र की प्रतीति होती है। ऐसे में स्वम्पर, भीताभीत, शत्रु, वयस्य, मध्यस्थ की अवस्थायें विलुप्त हो जाती हैं। सुख, दुःख, हानि-लाभ जैसे विघ्नाधायक बुद्धि से भिन्न निर्विघ्नप्रतीतिग्राह्यमात्र एक ही रस, विभावाद्यनुसार, भयानक, शृङ्गारादि हृदय में प्रवेश करता हुआ सा, आँखों में नाचता हुआ सा प्रतीत होता है। इस प्रतीति में आत्म स्वरूप का न तो अत्यन्त परिहार रहता है न ही विशेष भान[१०४]। रसानुभव के विषय में डॉ० पाण्डेय का मन्तव्य है कि इसके दो तल हैं। प्रथम में विषय का साक्षात्कार होता है द्वितीय में अन्तर्मुखता होने से स्थायी का भी लोप होकर प्रमातान्प्रमेय का द्वैत लुप्त हो जाता है। केवल आनन्दमात्र का अनुभव होता है।

रसावेश की उपर्युक्त पंक्तियों को और आगे बढ़ाते हुए अभिनव कहते हैं कि जीवात्मा शिव का ही प्रकाश[१०५] है, तत्स्वरूप है। इसलिये वासना के स्तर सभी का अनादिसंवाद है। वासनासंवाद ही अविघ्ना संविद् है। उपर्युक्त जो मृगादिविषयक साधारणीकरण की बात कही गयी थी वह परिमित नहीं होती। अपरिमित होती है। नटादि सामग्री ही भयादि का परिपोष करती है। देश-काल-पात्रादि जो काव्य में अर्पित होते हैं, परस्पर में रसप्रतिबन्धक होते हैं, किन्तु अभिनयादि के कारण उनका अपसारण होने से साधारणीकरण का भाव पैदा हो जाता है जिसमें सभी सामाजिक को एकघन रस प्रतीति होती है। आवरणभङ्ग होने से परमानन्दमय प्रकाशघन शिवाद्वैत की अवस्था[१०६] होती है किन्तु योगियों की अवस्था से विलक्षण और लोकोत्तर होती है। रस की अविघ्ना संवित् में चित्त चमत्कार, तज्जन्य, कम्पपुलकादि देखे जाते हैं। वह संपूर्ण तृप्ति या भोगावेश की दशा होती है। इसको साक्षात्कारात्मक मानस अध्यवसाय, संकल्प, स्मृति कुछ भी कह सकते हैं। इसका तात्पर्य हुआ कि प्रमाता सहृदय को अपने स्थायी का बोध नहीं होता। विभावादि उसके स्थायी को उद्बुद्ध कर इस प्रकार नायक-कवि-नटादि से अभिन्न कर देते हैं जैसे साधना के स्तर पर मलापसार होने पर आत्मा-शिव से अभिन्न हो जाती है—स्वप्रकाश, आनन्दघन। रस की साक्षात्कारात्मिका प्रतीति के एक और उदाहरण 'रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्' आदि को

प्रस्तुत कर अभिनव ने स्पष्ट रूप से यहाँ दुष्यन्त की एक स्मृतिमूलक रति का उदाहरण दिया है। विमलप्रतिभानसाक्षात्कृत आस्वाद्य इस स्मृति में—सकृत् कृतप्रणयोऽयं जनः का जो प्रेम, रति है वही व्यञ्जित हो रही है। इसमें जो आनन्द की अनुभूति किसी भी सहृदय को होती है वह न लौकिक होती है, न मिथ्या, न अनिर्वाच्य, न लोकतुल्य, न आरोप रूप। इसकी चरम परिपुष्टि में देश कालादि का कोई नियन्त्रण नहीं होता। यहाँ वीतविघ्नग्राह्य रसनीय भाव ही रस है[१०७]। सकलविघ्नविनिर्मुक्ता संवित्ति ही चमत्कार, निर्वेश, रसना, आस्वाद, भोग, समापत्ति, लय, विश्रान्ति आदि शब्दों से कही जाती है।

रसावेश में सात विघ्न गिनाये गये हैं—(१) प्रतिपत्ति में अयोग्यता, (२) स्वगत-परगत नियम से देशकाल विशेष से आविष्ट होना, (३) निज सुख दुःखादि से विवश होना, (४) प्रतीति उपाय की विकलता, (५) अस्फुटता, (६) अप्रधानयोग और (७) संशययोग। इनके अपसारणार्थ—लोकसंवेदनीय सामान्य या उदात्त प्रख्यात— चरित कथा का संयोग, रङ्गविधान-नटादिवेशभूषा-भाषादि माध्यम से साधरणीकरणोपाय, गीतातोद्य, गणिका, विदूषकादि का प्रयोग किया जाता है। अप्रतीति अस्फुत्व के निवारणार्थ ही नाटक में लोकधर्मी, वृत्ति, प्रवृत्ति रूप अभिनय जोड़े जाते हैं। कवि को रस की प्रधानता के प्रति सावधान रहना चाहिए और प्रधान भाव से आनुषङ्गिक पुरुषार्थों का अङ्गाङ्गिभाव से प्रयोग करना चाहिये। प्रायः एक ही अनुभावादि कई स्थायी के हो सकते हैं—प्रेक्षक में संशय उत्पन्न हो सकता है। अभिनव का कहना है कि इसीलिये आचार्य ने प्रत्येक के अनुभावादि का पृथक् उल्लेख न करके सूत्र में सामान्य रूप से किया और संयोग पद जोड़ा जिसका भाव है कि जिसका जिस भाव से सम्बन्ध है वही-वही विभावादि उसका है। इससे संशय निवारण हो सकता है[१०८]।

स्थायी के विषय में आपका कहना है कि प्राणी निम्नलिखित[१०९] संवेदनाओं से ही परिव्याप्त है—(१) रिरंसा (रति), परोपहास (हास), संताप (शोक), कोप (क्रोध), अशक्त (भीरू—भय), विषय विमुखता (जुगुप्सा), जिगीषुता (उत्साह), उदिताश्चर्य (विस्मय) और जिहासा (निर्वेद)। यह संवेदनायें किसी में कम होती हैं किसी में अधिक। इसलिये मुख्यतः नौ स्थायी और उतने ही रस हैं। जहाँ तक निर्वेवादि व्यभिचारी भावों का प्रश्न है, वे अनित्य होते हैं। समुचित विभावादि के अभाव में उनका जन्म ही नहीं होता। उत्पन्न हुए भी तो हेतु के समाप्त होते ही विलीन हो जाते हैं। उनका संस्कार भी नष्ट हो जाता है। किन्तु उत्साहादि स्थायी अपने कर्तव्य की समाप्ति के अनन्तर भी संस्कारतया बने रहते हैं। स्थायी में इन व्यभिचारी भावों की स्थिति माले के सूत्र में ग्रथित विभिन्न मणियों जैसी होती है। सभी को एकसाथ बाँधने के कारणभूत स्थायी से उपकृत ये व्यभिचारी अपनी उदयास्तमयी शतसहस्र विचित्रताओं से भासित भी अपने संस्कार सौन्दर्य को उसमें बिना निविष्ट कराये मध्येन्मध्ये उसे चित्रित और प्रकाशित करते हुए उस स्थायी में

शबलित सौन्दर्याधान करते हैं। विभाव रत्यादि के उद्‌बोधक होते हैं। उनके अभाव में व्यभिचारियों के नाम भी नहीं रहते[११०]।

सभी रस सुखप्रधान होते हैं[१११], क्योंकि, सभी की संवित् चर्वणारूप एकघन प्रकाशस्वरूप आनन्दसार (शिवस्वरूप) होती है। दुःख में चञ्चलता और रजोवृत्तिता होती है। इसलिये जो लोग रस को सुखदुःखात्मक मानते हैं। अभिनव की दृष्टि से वह उचित नहीं है।

रससूत्र की व्याख्या में अभिनव का कहना है कि जो प्रमाता स्थाय्यात्मक पर चित्तवृत्ति के अनुमान या अभ्यास में पटु हैं उन्हें ही चर्वणात्मक रसादिरूप अर्थ का प्रत्यक्ष होता है जो अलौकिक निर्विघ्नसंवेदनात्मक चर्वणागोचरस्वभाव होता है। रससूत्र में प्रयुक्त योग से तात्पर्य सामाजिक की बुद्धि में वासनात्मक रूप में स्थित स्थायी से सम्यग्योग, एकाग्रता, तन्मयीभाव, साधारणीकरण है। लोक में रत्यादि के कारणादि हेतु, काव्य-नाटक में अलौकिक होते हैं, केवल प्राच्यसंस्कारोपजीवनता के लिये वे विभावादि कहे जाते हैं किन्तु वे स्वयं में उस दसा में अलौकिक ही होते हैं। स्वसंवेदनस्वरूप चर्वणात्मक रस तात्कालिक होने के कारण चर्वणाऽतिरिक्तकाल में नहीं रहता है। स्थायी रूप होने पर भी रस स्थायिविलक्षण है[११२]। विभावानुभाव तो व्यक्त रहते हैं स्थायी कभी भी वाच्य नहीं होते, इसीलिये सूत्र में उनका ग्रहण नहीं किया गया, क्योंकि वे सर्वथा व्यङ्ग्य, चर्वणास्पद हैं। अतः शङ्कुकादि का स्थायी की प्रतीति को अनुमिति मानना ठीक नहीं है। मम्मट ने इसी मत को अपनी भाषा में अभिव्यक्त किया है जिसका अनुगमन रुय्यक, विद्याधर, विद्यानाथ के ग्रन्थ की टीका रत्नापण, कुछ विशेष व्याख्यानपूर्वक हेमचन्द्र, वेदान्तानुसारीरूप में पं० राजजगन्नाथ ने भी किया है। शिवप्रसाद भट्टाचार्य[११३], नोली, रामचन्द्र शुक्ल, नगीना पारिख, नन्ददुलारे बाजपेयी, डॉ० नगेन्द्र आदि आधुनिक विचारकों ने भी इस पर प्रभूत प्रकाश डाला है।

रस की अलौकिकता के सन्दर्भ में अभिनव ने स्पष्ट किया है कि रसप्रतीति लौकिक प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्दादि प्रमाण, स्वसंवित्तिज्ञानपरक तटस्थ योगी के प्रत्यक्ष तथा विषयोपरागशून्य शुद्धस्वात्मानन्दलीन परयोगी के प्रत्यक्षज्ञान से सर्वथा विलक्षण होती है। उपर्युक्त प्रतीतियों में अर्जनादि, विघ्नान्तरोदय, अस्फुट विषयावेशजन्यविवशतायें रहती हैं जिनमें सौन्दर्य नहीं होता। यहाँ रस में स्वात्मैकतत्व नियम का अभाव होता है क्योंकि रससर्वसाधारण होता है। स्वात्मा का अनुप्रवेश होने से परगत तटस्थ योगी की तटस्थता का भी रस में अभाव है। विभावादिसाधारणीकरण द्वारा संप्रबुद्ध समुचित निजवासना का, जो रत्यादिरूप होती है, उसका अनुप्रवेश होने से अर्जनादि विघ्नों का भी उदय नहीं होता। इस प्रकार रस अलौकिक है[११४]। विभावादि रसनिष्पत्ति के कारण नहीं हैं क्योंकि वैसा होने पर उनकी बोध समाप्ति पर भी रस बना रह सकता है। रस के पूर्व से प्रमेय जैसा सिद्ध न होने के कारण विभावादि उसकी ज्ञप्ति के कारण नहीं है। चर्वणोपयोगी उनमें विभावादि का व्यवहार भी अलौकिक होता है।

रस्यमानता ही रस का प्राण है। अतः वह प्रमेय नहीं है। रससूत्र में निष्पत्ति का अर्थ रस नहीं रस की रसना है। रसनैकप्राणतारूप में उसकी निष्पत्ति कही जा सकती है। रसनाव्यापार को न प्रमाणव्यापार कह सकते हैं न ही कारक व्यापार। रस की रसनीयता स्वयं में अप्रमाण भी नहीं है क्योंकि शिवात्मक होने से वह स्वसंवेदन सिद्ध है। यह रसना एक विचित्र प्रकार का बोध होने पर भी बोधान्तरों से विलक्षण है क्योंकि उसके उपाय विभावादि लोकविलक्षण होते हैं। यह रसना विभावादि के योग से निष्पन्न होती है इसलिये उस प्रकार के स्वसंवेदनरूप रसनैकगोचर लोकोत्तर रसादिरूप अर्थ निष्पन्न होता है। भरतसूत्र का तात्पर्य यही है—**तेन विभावादिसंयोगाद्रसनायतो निष्पद्यतेऽतस्तथा- विधरसनागोचरो लोकोत्तरोऽर्थो रस इतितात्पर्य सूत्रस्य**[११५]।

अन्त में साररूप में अभिनव का मन्तव्य है कि, नाटकादि में मुकुट आदि के माध्यम से प्रथमतः रामादि की बुद्धि का आच्छादन हो जाता है। प्राक्तनसंवित् संस्कार के कारण भी काव्यबलादानीत नट में रामबुद्धि नहीं रह जाती। उभयदेशकाल का परित्याग हो जाता है। रत्यादि की प्रतीति के रूप में रोमाञ्चादि पहले से देखे गये रहते हैं। उससे ही नाटक में भी सामाजिक में रत्यादि की प्रतीति होती है। इस प्रतीति में रत्यादिवासना के कारण स्वात्मा भी अनुप्रविष्ट रहती है। यह प्रतीति न तटस्थ, न नियत रूप में और न ही नियतपरात्मैक रूप में होती है। यही कारण है इसमें अर्जन, द्वेष, दुःखादि की बाधा का उदय नहीं हो पाता। सन्तानवृत्त्या सभी की संविदभिन्न है। इसलिये उस संविद् से साधारणीभूत या साक्षात्कृत रति ही शृङ्गार बन जाती है। यह साधारणभाव विभावादियों के माध्यम से उत्पन्न होता है। रससूत्र विषयक अभिनव का यह निष्कर्ष है—अयमत्र संक्षेपः...... तेन साधारणभूता सन्तानवृत्तेरेकस्या वा संविदो गोचरभूता रतिः शृङ्गार, साधारणीभावना च विभावादिभिः[११६]।

अभिनवगुप्त द्वारा विवेचित रस का पानकरसन्याय से सहृदय प्रमाता द्वारा उपभोग किया जाता है। इस सन्दर्भ में भरतोक्त षाडवशब्दवाच्य अलौकिक पाकरस में जल के समान प्रबन्धनिर्वाह, विशेषकर दशरूपकानुप्राण रस में स्थायी की ही रसरूप में अभिव्यञ्जनात्मकता होती है, व्यञ्जन विभावस्थानीय होता है, चिञ्चाहरिद्रादि अनुभावस्थानीय और गुडादिद्रव्य व्यभिचारिस्थानीय होते हैं।

यह भी ध्यान देने योग्य है कि कविनिबद्ध नटादि द्वारा अभिनयों से प्रत्यक्षकल्पता को प्राप्त कराये गये विभावादियों से झटिति ही अविघ्नात्मक रसका भोगावेश हो जाता है। गमनक्रियावत् पर्यन्त में रसना क्रिया न होकर प्रथमावसर में ही हो जाती है—कविनोपनिबद्धैर्नटेन साक्षात्कारकल्पतामानीतैः अविघ्नभोगात्मक रस उत्पद्यते झटित्येव। न गमनक्रियावत् पर्यन्ते रसनक्रिया निष्पद्यते अपितु प्रथमएवावसरे[११७]। इस प्रकार पुमर्थोपयोगी, रसनाधिक्यवशात् भरत ने आठ रसों की नाट्य में संस्तुति की है। इस सबका पर्यवसान मोक्ष (निर्वेद) में होता है, पर रसनाधिक्य न होने से नाट्यसन्दर्भ में उसको आचार्य ने उचित नहीं माना।

एक प्रश्न उठता है कि अभिनव की रसप्रक्रिया में सार्ववर्णिक नाट्य जो रसापरपर्याय है जिसका प्रमाता विशिष्ट ही हो सकता है सभी अधिकारी होंगे क्या? स्वयं वह सार्ववर्णिक पद की व्याख्या में कहते हैं—अधिकृतानामनधिकृतानामपि सुकुमाराणां व्युत्पत्तिदायी। विशिष्ट प्रमाता के कथन और इस कथन में विरोध नहीं है क्या? स्वयं तो नहीं 'अन्येतु' के द्वारा वह इसका समाधान करते हैं— अश्रुतशास्त्राणामपि संवादादविचलकार्याकार्य सिद्धिः[११८]। इस प्रकार पुनः वह छल से रस को प्रत्यभिज्ञादर्शन की भूमि में पहुँचा देते हैं। अस्तु—

यस्मिन्निगूढपरमार्थमबुध्यमानाः संसारनाट्यरसभावमुपाश्रयन्ते।
बुद्ध्वा पुनर्मुहुरहो निजमेवयान्ति तत् पूर्णधाम शिवतत्त्वमहं प्रपद्ये॥

*

सन्दर्भ-सूची

१. ऋ०, उषस् सूक्त ३/६१; ४/५१ आदि, १.११३.७; ५.८०.५; १.१२३.१०।
२. वही, ह्वयामि रात्रिं जगतो निवेशिनीम्।
३. वही, १.१.१ वैदिक कवि की सौन्दर्यसाधना के किये द्रष्टव्य; डॉ० फतेह सिंह की 'भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका' तथा जे० खोदा 'स्टा०रि०वे०', डॉ० एम०के० वर्मा—पो०व्यू०वे०।
४. वही, द्वा सुपर्णा सयुजा सरवाया ....अभिचाकशीति॥ १/१६४/२०।
५. मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समाः। रामा० १/२/१५, तथा कालिदास—रघुवंश १४/७०। शोकः श्लोकत्वमागतः। आनन्द, ध्व० १/५।
६. सदाशिव-ब्रह्म-भरतमतत्रयविवेचनेन.........विहितमिदं शास्त्रम्, न तु मुनिविरचितमिति.... प्रयुक्तम्। अ०भा०पृ० ९, कोहलादिभिरेवंतुवात्स्यशाडिल्यधूर्तिलैः। एतच्छास्त्रं प्रयुक्तं तु नराणां बुद्धिवर्धनम्॥ ना०शा०। ३७/२४-२५।
७. महाकवि कालिदास, देवनामिदमामनन्ति मुनयः शान्तं क्रतुं चाक्षुषम्। मा०मि० १/४।
८. तस्मात्सृजापरं वेद पञ्चमं सार्ववर्णिकम्। ना०शा० १/१२।
९. रूपकनिरूपणीयं भरतः, रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः। का०मी०पृ० २, राजशेखर।
१०. अ०भा०पृ० ९ तथा षष्ठाध्याय।
११. नाट्यं नाम.......वस्तु रसस्वभावम्। आ०भा०पृ० ३।
१२. अ०भा०पृ० २६७।
१३. वही, पृ० २९०।
१४. विस्तार से द्रष्टव्य, मेरी पुस्तक—अभिनव रस सिद्धान्त की भूमिका।
१५. योऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदुःख समन्वितः। सोङ्गाद्यभिनयोपेतः नाट्यमित्यभिधीयते॥ ना०शा० १/११९ तथा त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्। वही।
१६. ......विश्रान्तिजननम् काले नाट्यमेतद्भविष्यति। वही, १/११४।
१७. सर्वे अमी सुखप्रधाना......आनन्दसारत्वात्.....इति आनन्दरूपता सर्वरसानाम्। अ०भा०पृ० २८२।
१८. काव्यं तावन्मुख्यतो दशरूपकात्मकमेव........तत एवोच्यते—सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः (वामन काव्या) यत्तु दशरूपकं, तस्य योऽर्थस्तदेव नाट्यम्। वही, अ०भा०पृ० २९१।
१९. ना०शा०, पृ० २७२।
२०. विस्तरेणोपदिष्टानामर्थनां सूत्रभाष्ययोः। निबन्धो यः समासेन सङ्ग्रहं तं विदुर्बुधाः॥ ना०शा० ६/९।
२१. अ०भा०पृ० २६४।
२२. काव्ये तु गुणालङ्कारमनोहरशब्दार्थशरीरे लोकोत्तररसप्राणके हृदयसंवादवशात् निमग्नाकारिका तावद् भवति चित्तवृत्तिः। किन्तु सर्वस्य प्रत्यक्षसाक्षात्कारकल्पा तत्र न धीरुदेति। नाट्येतु....उचित—गीतातोद्यचर्वणा विस्मृत सांसारिक भावतया विमलमुकुरकल्पीभूतनिजहृदयः सूच्याद्यभिनयावलोकनोद्भिन्नप्रमोदशोकादितन्मयीभावः.... संभावनादि ज्ञानविज्ञेयत्वपरामर्शानास्पदे रामरावणादिविषयाध्यवसाये.....स्वात्मद्वारेण विश्वं

तथा पश्यन्......शुभमाचरत्यशुभं समुज्झति। तदिद......मनुकीर्तनमनुव्यसायविशेषो नाट्यापरपर्याय:। अ०भा०पृ० ३६।

२३. अनुकार इति हि सदृशकरणम्। तत्कस्य? न तावद्रामादे:। तस्यानुकार्यत्वात्। एतेन प्रमदादि विभावानामनुकरणं पराकृतम्। न चित्तवृत्तीनां शोकक्रोधादिरूपाणाम्। नहि नटो रामसदृशं स्वात्मन: शोकं करोति सर्वथैव तस्य तत्राभावात्।.......अनुभावांस्तु करोति। किन्तु सजातीयानेव न तु तत्सदृशान्.......तस्मादनियतानुकारी नाट्यमित्यपि न भ्रमितव्यम्। अस्मदुपाध्यायकृते काव्यकौतुकेऽप्ययमेवाभिप्रायो मन्तव्य:। वही, अ०भा०पृ० ३७।

२४. तेनानुव्यवसायवत् विशेषविषयीकार्यं नाट्यम्। तथा चाहार्यादिविशेषादिना निवृत्ते तद्देशकालचैत्रमैत्रादिविशेषप्रत्यक्षाभिमाने.....रामादिशब्दस्यात्रोपयोगात् प्रसिद्धतदर्थ-तया...अभिनयचतुष्टयेन स्वरूपप्रच्छादनं.....हृदय संस्कार सचिवेन......प्रयोक्त्रा दृश्यमानेन योऽनुव्यवसायो जन्यते.......निजसंविदानन्दप्रकाशमय: अतएव विचित्रो रसनास्वादनचमत्कारचर्वणानिर्विशेषभोगाद्यपरपर्याय: तत्र यदवभासते तन्नाट्यम। तस्मादनुव्यवसायात्मकं कीर्तनं रूषितविकल्पसंवेदनं नाट्यम। तद्वेदनवेद्यत्वात्। वही, पृ० ३७ तथा द्रष्टव्य—गणेश त्रयम्बक देशपाण्डे—भारतीय साहित्यशास्त्र, पृ० २८०-८३।

२५. अतिकनीयसि मण्डपे पाठ्यमुच्चारितं स्वरं सदनिस्सरणधर्मत्वात्......विनष्ट:। अनुरणनंहि स्वरस्य पाठ्यसिद्धिरूपम्। अ०भा०पृ० ५३ (ना०शा० २/२१)। प्रेक्षागृहाणां सर्वेषां तस्मान्मध्यममिष्यते। यावत्पाठ्यं च गेयं च तत्रश्रव्यतरंभवेत् २/२१. सर्वेषां रूपकाणां यत् पाठ्यं प्रधानं तनूरूपप्राणोपरञ्जकत्वं च गीतं चकारातोद्यं च श्रव्यतरं भवति। अ०भा० वही पृ० ५३।

२६. प्रवेशाक्षेपनिष्क्रामप्रासादादिकमथान्तरम्।.......ना०शा० ३२/३३४-४०।

२७. ततं चैवावनद्धं च घनं सुषिरमेव च। चतुर्विधं तु विज्ञेयमातोद्यं लक्षणान्वितम्॥ ना०शा० २८/१।

२८. ना०शा० २८/१ पर अ०भा०।

२९. षड्जश्च ऋषभश्चैव गान्धारो मध्ममस्तथा। पञ्चमो धैवतश्चैव सप्तमोऽथ निषादवान्॥ वही २८/२१।

३०. वही, २७/१-१७ तथा सम्पूर्णध्याय द्रष्टव्य।

३१. द्रष्टव्य ना०शा० २८ से ३१ अध्याय।

३२. वही, पृ० १६५ (चौखम्बा संस्करण); राजशेखर वेशविन्यासक्रम: प्रवृत्ति:। का० मी०पृ० २५।

३३. वही, ना०शा० अध्याय—१४।

३४. वृत्तिसंज्ञाकृता ह्येषा नानाभावरसाश्रया। चरितैस्तस्य देवस्य द्रव्यं यद् यादृशं कृतम्॥ वही, २२/२१ (चौ०) विलास विन्यास क्रमो वृत्ति:। राजशेखर, वही, पृ० २५।

३५. बवन्ध यच्छिखापाशं कैशिकी तत्र निर्मिता। वही, (चौ०) २२/६।

३६. शृङ्गारे चैव हास्ये च वृत्ति: स्यात् कैशिकीति सा। वही, २३/६४-६८ तथा समग्राध्याय।

३७. स्वभावोपगतं शुद्धं......लोकधर्मी तु सा स्मृता। अतिसत्वक्रियोपेतं......नाट्यधर्मी प्रकीर्तिता॥ वही, २४/६९-८२।

३८. वही, २१/२०३।

३९. काव्येऽपि लोकनाट्यधर्मिस्थानीयेन स्वभावोक्तिवक्रोक्तिरूपेण इयमेव रसवार्ता। लोचन पृ० १८६।

४०. सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते। काव्यालङ्कार २/८५।

४१. ध्वन्यालोक, पृ० ४६७-७०। अतिशयोक्त्या अर्थः सकलजनोपभोगपुराणीकृतोऽपि विचित्रतया भाव्यते प्रमदोद्यानादिः विभावतां नीयते। विशेषेण च भाव्यते रसमयीक्रियते। वही, लो०पृ० ४६७-६८।

४२. भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिः वक्रोक्तिश्चेतिवाङ्मयम्. काव्यादर्श। २/३६०।

४३. ना०शा० अध्याय २१।

४४. अ०भा० २१/२ पर।

४५. देहात्मकं भवेत्सत्वं सत्वाद्भावः समुत्थितः। वागङ्गमुखरागैश्च सत्वेनाभिनयेन च। कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते। वही, २२/६-८।

४६. वही, अध्याय २२।

४७. वही, अध्याय २५।

४८. वही, पृ० २२१ (चौ०)।

४९. इतिवृत्तं तु काव्यस्य शरीरं परिकल्पितम्। वही, २१/१।

५०. वही, ७/३।

५१. सप्तमाध्यायारम्भ पृ० ३४२।

५२. भावशब्देन तावच्चित्तवृत्तिविशेषा ए विवक्षिताः। ये त्वेते ऋतुमाल्यादयो विभावा बाह्याश्च बाष्पप्रभृतयोऽनुभावा एकान्तजडस्वाभावा ते न भावशब्दव्यपदेश्याः।........तस्मात् स्थायिव्यभिचारिसात्विका एव भावाः। विभावानुभावानांच प्रासङ्गिकं लक्षणम्। कोः कवतेर्कवनीयं काव्यम्। तत्र च पदार्थवाक्यार्थौ रसेष्वेव पर्यवस्येते इतिकाव्यार्थाः रसाः। वही, पृ० ३४२-३४३।

५३. अ०भा०पृ० ३४३।

५४. तत्र च प्रधानत्वेन जलस्य रसाभिव्यञ्जकत्वमिति व्यञ्जनं विभावस्थानीयम्। चिञ्चाहरिद्राद्यनुभावप्रायम्। द्रव्याणि तु गुडादीनि.....व्यभिचारिकल्पम्। यथाहि दार्ष्टान्तिकसूत्रे स्थायिग्रहणं शल्यकल्पमिति त्रयमेवोपात्तं तथा दृष्टान्तेऽपि त्रयस्यैवोपादानम्। अ०भा०पृ० २८८।

५५. वही, पृ० २८८-९०, तथा—भावाभिनयसंबद्धान् स्थायिभावांस्तथा बुधाः। आस्वादयन्ति मनसा तस्मान्नाट्यरसाः स्मृताः। वही० पृ० ६७/३३।

५६. न रसनाव्यापार आस्वादनम्। अपितु मानस एव। ......हृदयसंवादक्रमणे तन्मयीभावापन्नप्रमातृभूम्यभेदमुपसम्प्राप्ता अचिन्त्या स्थायिनः.......स्वपरविवेकशून्यस्वादचमत्कारपरवशतया........सुखदुःखादिविचित्रवासनानुवेधोपनतहृद्यतातिशयसंविच्चर्वणात्मना भुञ्जते।....तेव नाट्यात्समुदायरूपाद्रसाः। रस समुदायो हि नाट्यम्। नाट्य एव रसाः। काव्येऽपि नाट्यायमान एव रसः। वही, पृ० २९०, अ०भा०।

५७. यथा बीजाद्भवेद् वृक्षो वृक्षात्पुष्पं फलं तथा। तथा मूलं रसाः सर्वे तेम्यो भावा व्यवस्थिताः।। ना०शा० ६/३८।

५८. कविगतसाधारणीभूतसंविन्मूलश्च काव्यपुरस्सरो नटव्यापारः। सैव च संवित्परमार्थतो रसः। अ०भा०पृ० २९४।

५९. वही, अ०भा०पृ० २९४।

६०. रत्यादिशक्त्यष्टकमध्यवृत्तिर्यस्य स्वहृन्मण्डलसंप्रयोज्या। स्थायी शिवश्चेतसि तेन वृत्तिः कृता रसाध्याय इह क्रमेण॥ अ०भा०पृ० ३४१।

६१. तत्र अलङ्कारप्रजापतयः भामहोद्भटप्रभृतयश्चिरन्तनालङ्कारकाराः। अ०स०पृ० २।

६२. तेन स्थाय्येव विभावानुभावादिभिरूपचितो रसः। स्थायी भवत्युपचितः मुख्यया वृत्त्या रामादौ अनुकार्येऽनुकर्तर्यप्यनुसन्धानबलात्। अ०भा०पृ० २६२, अ०र०सि०पृ० १—२, का०प्र० चतुर्थ उल्लास।

६३. काव्यादर्श २/२७९, २८१।

६४. प्रेयो गृहागतं कृष्णमवादीद्विदुरोयथा। भामहालङ्कार ३.५—६।

६५. रत्यादिकानां भावानामनुभावादिसूचनैः। यत्काव्यं वध्यते सद्भिस्तत्प्रेयस्वदुदाहृतम्॥ रसवद्दर्शितस्पष्ट शृङ्गारादिरसोदयम्। स्वशब्दस्थायिसंचारिविभावाभिनयास्पदम्॥ शृङ्गार हास्य करुण रौद्रवीर भयानकाः। बीभत्साद्भुतशान्ताश्च नव नाट्ये रसाः स्मृताः॥ का०सा०सं० ४/२-४।

६६. लघुवृत्ति, पृ० ५३।

६७. ल०वृ०पृ० ५३।

६८. काव्यादर्श २/२७३।

६९. अक्षरं परमं ब्रह्म सनातनमजं विभुम्। वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वम्॥ आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन। व्यक्तिः सा तस्य चैतन्यचमत्काररसाह्वया। आद्यस्तस्य विकारो यः सोहङ्कार इति स्मृतः।.....अभिभानाद्रतिः सा च परिपोषमुपेयुषी। व्यभिचार्यादिसामान्याच्छृङ्गार इति गीयते॥ अ०पु० ३४२/१-१२ सम्पूर्ण अध्याय।

७०. डॉ० वी० राघवन्, भोजास, शृङ्गार प्रकाश, पृ० ४०८-५३२।

७१. दीप्तरसत्वं कान्तिः। का०सू०वृ० ३/२/१५ तथा वृत्तिभाग।

७२. दशरूपक चतुर्थ प्रकाश।

७३. वक्रोक्ति जीवितम् १/११-१४।

७४. वही, १/२५-२९।

७५. वही, पृ० ३२ (मेरे-डॉ० दशरथ द्विवेदी द्वारा सं, वाराणसी) १८८८।

७६. वही, पृ० १४४, सं० डॉ० के० कृष्णमूर्ति।

७७. वही, कारिका ३/८ की व्याख्या पृ० १४१।

७८. विस्तार हेतु देखें, डॉ० हरिनारायण दीक्षित द्वारा सम्पादित भारतीय काव्यशास्त्र ग्रन्थ में वक्रोक्ति—विषयक मेरा लेख।

७९. वही, पृ० १२२ तथा १३४।

८०. दशरूपक, ४ प्रकाश, मेरा ग्रन्थ अ०र०सि०, डॉ० नगेन्द्र रससिद्धन्त, डॉ० के०सी० पाण्डेय ए०इ०अ०।

८१. मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्धयाभिधावतोः। मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियांप्रति॥ धर्मकीर्ति प्रमाणवार्तिक तथा व्यक्ति विवेक, पृ० ७६। अ०भा०पृ० २७२, अ०र०सि०पृ० ४-१७, का०प्र०पृ० ८८-९०, नोली—ए०इ०अ०, पृ० ४, पारिख पृ० २४।

८२. तदिदमन्तस्तत्वशून्यं न विमर्दक्षममित्युपाध्यायाः। तथाहि अनुकरणरूपो रस इति यदुच्यते तत्किं सामाजिकप्रतीत्यभिप्रायेण, उत नटाभिप्रायेण, किं वा वस्तु-वृत्तिविवेचकव्याख्यातृबुद्धिसमवलम्बनेन.....अथ भरतमुनिवचनानुसारेण? अ०भा०पृ० २७४-७५, नो०ली० १०६-१०।

८३. अ०भा०पृ० २९४। डॉ० के०सी० पाण्डेय—स्व०क०शा० पृ० ८६-८९।

८४. द्रष्टव्य—डॉ० ब्रजमोहन चतुर्वेदी—महिमभट्ट, रस हेतु पृ० १८८-२२१, व्यक्ति विवेक तथा उसकी रूय्यक कृत टीका, का०प्र० पञ्चम उल्लास का अन्तिम भाग पृ० २५२-५६।

८५. अ०भा०पृ० २७६, अ०र०सि०पृ० २०, का०चं०पा०प-० ९८।

८६. ब्रह्मणा यदुदाहृतं तन्नाट्यं वक्ष्यामि। यथाहि कल्पनामात्रसारं तत एवावनवस्थितैकरूपं क्षणेन कल्पनाशतसहस्रसहं स्वप्नादिविलक्षणं सुष्ठुतरां हृदयग्रन्थिनिदानमव्यक्त-स्वालम्बनब्रह्मकल्पनटोपरचितं.....विश्वमिदमसत्यनामरूपप्रपञ्चात्मकमथ च श्रवणमन-नादिवशेन परमपुरुषार्थप्रापकम्। अ०भा०पृ० ५। डॉ० पाण्डेय, वही, पृ० १११।

८७. तस्मात्काव्ये दोषाभावगुणालङ्कारमयत्वत्वलक्षणेन नाट्ये चतुर्विधाभिनयेन...... विभावादिसाधारणीकरणात्मनाऽभिधातो द्वितीयेनांशेन भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो-रसः.........ब्रह्मास्वादसविधेन भोगेन परं भुज्यते। अ०भा० पृ० २७७, लोचन पृ० १९२-९३, रसगं, पृ० १००-१०९ (चौ०) का०प्र० ९०-९१। तथा पाण्डेय, वही, पृ० १०५-८।

८८. डॉ० नोली, वही, भूमिका पृ० २०-२१ उद्धृत डॉ० पारिख पृ० १२४।

८९. लो० पृ० १८८-८९, (सं० १९९७), अ०भा० पृ० २७७, र०गं० पृ० १०९, भावना मीमांसा का शब्द है। भट्टनायक ने उसे स्वीकार किया है। भवितुर्भवनानुकूलो व्यापारविशेषो भावना।

९०. अ०भा०पृ० ३६, पृ० २९१, लोचन पृ० १८६।

९१. अ०भा०पृ० ४७ तथा पृ० १६।

९२. यावन्निजहृदयरसविलसद्विकस्वरनिर्वारचमत्कारपवित्रता न जाता भगवत इव तावच्छिक्षाशतैरपि वैचित्र्यमनाहार्यम्। अ०भा०पृ० २२।

९३. अ०भा०पृ० १८।

९४. अ०भा०पृ० २७९।

९५. ये काव्याभ्यासप्राक्तनपुण्यहेतुबलादिभिः सहृदयाः। वही, पृ० २८९, ये स्वभावतो निर्मलमुकुरहृदयाः......तेषामेव.........साधारणरसनात्मकचर्वणाग्राह्यो रससञ्चयः। वही, पृ० २९१, सहृदयत्वं हि हृदयस्य कविहृदयतादात्म्यापत्तियोग्यतैव। पृ० १३२८ (का०हि०वि०सं०), येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद्विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयी-भवनयोग्यता ते स्वहृदयसंवादभाजः सहृदयाः। ध्व०लो०पृ० ३८।

९६. कविगतसाधारणीभूतसंविन्मूलश्च काव्यपुरस्सरो नटव्यापारः, सैव च संवित् परमार्थतो रसः। वही, पृ० २९४, डॉ० के० कृष्णमूर्ति, ध्वनि एण्ड रस, चा०अ०गं०पृ० ४८६।

९७. हृदयसंवादतन्मयीभवनक्रमात् आस्वाद्यमानतां प्रतिपन्नः.......रसपरिपूर्णकुम्भोच्चलन-वच्चित्तवृत्तिनिःष्यन्दस्वभाववाग्विलापादिवत्। ध्व०लो०पृ० ८६-८७, कृष्णमूर्ति वही, ४८६।

९८. रसानुगुणशब्दार्थचिन्तास्तिमितचेतसः। क्षणं स्वरूपस्पर्शोत्था प्रज्ञैव प्रतिभा कवेः। साहि चक्षुर्भगवतस्तृतीयमिति गीयते। यया साक्षात्कारोत्येष भावांस्त्रैलोक्यवर्तिनः। व्य०वि०पृ० ४५३-५३।

९९. अ०भा०पृ० ३४१, ३४२।

१००. स्थायी प्रबुद्धहृदये व्यभिचारिभूतः कामाकुलासु जनतासु महानुभावः। अन्तर्विभावविषयो रसमात्रमूर्तिः श्रीमान्प्रसन्नहृदयोऽस्तु ममत्रिनेत्रः॥ अ०भा०पृ० ३४२।

१०१. यस्तन्मयान्हृदयसंवदनक्रमेण द्राक् चित्रशक्तिगणभूमिविभागभागी। हर्षोल्कसत्पर-विकारजुषः करोति वन्देततमां तमहमिन्दुकलावतंसम्॥ षट्त्रिंशकात्मकजगद्गगनाव-भाससंविन्मरीचिचयचुम्बितबिम्बशोभम्॥ अ०भा०पृ० १।

१०२. आनन्दः स्वातन्त्र्यं स्वात्मविश्रन्तिः स्वभावाह्लादः प्राधान्यात् (तन्त्रसार)। गंगादत्त शास्त्री, मति, मं०पृ० १०२।

१०३. तन्त्रालोक, म०मं०पृ० १०२। तथा डॉ० के०सी०पा० पृ० १६७-२०६।
१०४. अ०भा०पृ० २७९।
१०५. आत्मैव सर्वभावेन स्फुरन्ती वृत्तिचिद्विभुः। म०मं०पृ० १०१, प्रकाशस्वरूपता चित्शक्तिः। प्रकाशश्च अनन्योन्मुखविमर्श अहमिति। प्रत्य० वही, म०मं०।
१०६. श्रीमत्परमशिवस्य पुनः विश्वोत्तीर्णविश्वात्मकपरमानन्दमयप्रकाशैकघनस्य अखिलं अभेदेनैव स्फुरति। वही, म०मं० पृ० १०१।
१०७. अ०भा०पृ० २७९-८०। द्रष्टव्य—डॉ० सुरजनदास स्वामी का लेख—अभिनवगुप्तप्रतिपादितं रसस्वरूपम्—प्रिन्सिपल्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म इन संस्कृत—पोयटिक्स—सं० डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी, पृ० २५०-२५१।
१०८. अ०भा०पृ० २८०-८२।
१०९. जात एव जन्तुरीयतीभिः संविद्भिः परीतो भवति। अ०भा०पृ० २८२-८३।
११०. वही, पृ० २८३। एते व्यभिचारिणः विद्युदुन्मेषनिमेषयुत्तयैव स्थायिसूत्रमध्ये प्रकटयन्तः तिरोदधन्तश्च तद्वैचित्र्यमावहन्ति। अ०भा० पृ० ३०८। निर्वेदग्लानिशङ्काख्याः..... (त्रयस्त्रिंशद्व्यभिचारिणः)। ना०शा० ६/१८-२१। —
१११. तत्र सर्वेऽमीसुखप्रधानाः। स्वसंविच्चर्वणारूपस्यैकघनस्य प्रकाशानन्दस्वरूपतत्वात्। वही, पृ० २८२। शृङ्गारहास्यवीराद्भुतशान्ताः सुखमयाः। अपरे पुनरनिष्टविभावाद्युपनीतात्मनः करूणरौद्रवीभत्सभयानकाश्चत्वारः दुखात्मनः। रामचन्द्रगुणचन्द्र, ना०द० पृ० २९०। प्रकाशविमर्शात्मा संवित्स्वभावः परमः शिवो भगवान् स्वातन्त्र्यादेव रूद्रादिस्थावरान्तप्रमातृरूपतयानीलसुखादिप्रेमैकरूपतयैष स्वातन्त्र्यमहिम्ना प्रकाशते। प्रत्य० वही, म०मं० पृ० १०७ तथा कविराज प्रतिभा पृ० २५-२६८।
११२. अ०भा० पृ० २८४, का०प्र० पृ० ९५, एकावली पृ० ८६-९०, रत्नापणः पृ०प्र०रू०य० पृ० १५४-५८; काव्यानु तथा इत्थंचाभिनवगुप्तमम्मटभट्टादिग्रन्थस्वारस्येन भग्नावरर्णाचद्विशिष्टो रत्यादिः स्थायीभावो रसः। ....रत्याद्यवच्छिन्नेनभग्नावरणा चिदेव रसः। र०गं० पृ० ८७-९६।
११३. एस०एस० भट्टाचार्य Studies in Indian Poetics, पृ० ३९-५३, ए०ए०ए०अ० भूमिका १-३२, पारिख पृ० १-१२०।
११४. अ०भा०पृ० २८५, का०प्र०पृ० ९०-९१, रसगंगाधर आदि, द्रष्टव्य और एन०एन० चौधरी का काव्यतत्व समीक्षा, पृ० १९०-२१४। जयदेव कृत रसविवेचनादि द्रष्टव्य चन्द्रालोक—पञ्चममयूख तथा राकागम टीका।
११५. वही, अ०भा०पृ० २८५। पाश्चात्त्य समीक्षा के आलोक में भारतीय रस—मीमांसा और मोक्ष की अवधारणा हेतु द्रष्टव्य, कृष्ण चैतन्य का—संस्कृत पोयटिक्स, पृ० ११८-११६ तथा २८९-३८६।
११६. वही, अ०भा०पृ० २८५-८६
११७. वही, अ०भा०पृ० ३०५।
११८. वही, अ०भा०पृ० १२। वैष्णवसम्प्रदायानुसार—रस मीमांसा—प्रेक्षणीय है। द्रष्टव्य, एस० भट्टाचार्य स्ट०इं०पो० पृ० ५२।

*

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

१. नाट्यशास्त्र	अभिनव भारती, बड़ौदा, सं० १९५६
२. नाट्यशास्त्र	बी०एच०यू० संस्करण, १९७५
३. ध्वन्यालोक	लोचन, चौखम्भा, सं० १९९७ (ध्वन्यालोक)
४. काव्यालङ्कार	भामह, बिहार रा०भा० पटना, १९६२ (काव्या०)
५. काव्यादर्श	मिथिला विद्यापीठ, १९५७ (काव्या०)
६. काव्यालंकार सार सं०	लघुवृत्ति, प्रा०वि०सं० मन्दिर, १९२५
७. काव्या०सू०वृत्ति०	चौखम्बा, १९७१
८. वक्रोक्तिजीवितम्	दशरथ द्विवेदी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, १९८८
९. वक्रोक्तिजीवितम्	डॉ० के० कृष्णमूर्ति, १९७७
१०. अभिनवरस सिद्धान्त	दशरथ द्विवेदी, वाराणसी, १९८४
११. अभिनव का रस विवेचन	डॉ० नगीना पारिख, वाराणसी, १९८४ (अ०र०वि०)
१२. मतिमन्थन	डॉ० गंगादत्त शास्त्री, १९७२
१३. स्वतन्त्रकला शास्त्र, भाग १	डॉ० के०सी० पाण्डेय, १९५७
१४. व्यक्ति विवेक	चौखम्बा, १९६४ (व्य०वि०)
१५. नाट्यदर्पण	सम्पादक : डॉ० नगेन्द्र, दिल्ली, १९६१ (ना०द०)
१६. काव्यमीमांसा	चौखम्बा, १९६४
१७. सरस्वती कण्ठाभरण	काव्यमाला, १९३४ (स०कं०)
१८. शृंगार प्रकाश	मैसूर, १९५५ (शृं०प्र०)
१९. भोजास् शृंगार प्रकाश	डॉ० राघवन्, १९६३ (भो०शृं०प्र०)
२०. काव्यप्रकाश, बा० बोधिनी, १९६५	भा०ओ०रि०इं० पूना
२१. एकावली	बाम्बे सं० सीरीज (एका०)
२२. प्रतापरुद्र यशोभूषण	रत्नापण बाल मनोरमा सीरीज, १९५० (प्र०रू०य०)
२३. काव्यालङ्कार रुद्रट	चौखम्बा, १९६६
२४. रसगङ्गाधर	चौखम्बा, १९६४
२५. अग्निपुराण	आनन्दाश्रम, १९५७
२६. चन्द्रालोक	चौखम्बा, १९३८
२७. भा० साहि० शास्त्र	गं०त्र्यं०दे० पाण्डे, बाम्बे, १९६०
२८. काव्यशास्त्र	डॉ० भगीरथी मिश्र, वाराणसी, १९७५

२९. भा० सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका	डॉ० फतह सिंह
३०. कविराज प्रतिभा	सं०सं०वि०वि०, वाराणसी, १९८७ (क०प्र०)
३१. कला और साहित्य की दार्शनिक भूमिका	डॉ० अवस्थी, शिवशंकर, १९८३ (क.सा.दा.भू.)
३२. महिमभट्ट	डॉ० वी०एम० चतुर्वेदी, १९६८
३३. कृष्णचैतन्य	संस्कृत पोयटिक्स, १९१८ (सं०पो०)
३४. काव्यतत्त्व समीक्षा	डॉ० एन०एन० चौधरी, १९५९ (का०त०स०)
३५. डॉ० चारुदेव अभिनन्दन ग्रन्थ	डॉ० कृष्णमूर्ति, लेख पृ० ७६, १९७४

३६. आर नोली, दि एस्थेटिक्स एक्सपीरियन्स एका० टू अभिनवगुप्त, रोम, १९५६

३७. स्टडीज इन इण्डियन पोयटिक्स, डॉ० शिवप्रसाद भट्टाचार्य, १९६४ (स्ट०इं०पो०)

३८. दशरूपक	डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी, वाराणसी, १९७३ (द०रू०)
३९. साहित्यदर्पण	चौखम्बा, १९५५ (सा०द०)
४०. स्टा०रि० इन वेद	डॉ० जे० खोद्रा
४१. पोयटिक ब्यूटी ऑफ ऋग्वेद	डॉ० एम०के० वर्मा

*

परिशिष्ट-१

भारतीय रस विचार

रान्येरो नोली

भारत में रसानुभूति के विवेचन का जन्म केवल तत्त्व-जिज्ञासा में से नहीं, किन्तु व्यावहारिक उपयोग के प्रयोजन से हुआ है। प्रारम्भ में यह नाटक तक सीमित था। इस विषय पर प्राचीनतम ग्रन्थ तो नाट्यशास्त्र है (ई० स० ४थी या ५वीं शती)। परम्परागत मान्यता है कि उसे भरत ने रचा था। उसमें नाट्य-प्रयोग तथा नटों के प्रशिक्षण विषयक अनेक नियम व सूचनाएँ (निर्देश) संगृहीत हैं। उसमें नाट्य पर दृश्य और श्रव्य-कला के समन्वय के रूप में विचार किया गया है। अन्य किसी भी कला की तुलना में नाट्य में ये अधिक सरलतापूर्वक सहयोग कर प्रेक्षक में ऐसी प्रतीति उत्पन्न करती हैं, जो साक्षात्कारात्मक होती है। उसका अनुभव रस या स्वाद-जैसा होता है, और उसे रस कहा जाता है।

प्रेक्षक जब इस रस का आस्वाद करता है तब वह उसमें व्याप्त हो जाता है तथा उसे आनन्द की अनुभूति कराता है। अत: रसानुभूति का मतलब है, इस रस का आस्वादन, अन्य सब कुछ भूलकर इसी में तल्लीन हो जाना। भरत ने अपने प्रसिद्ध रस-सूत्र में कहा है कि नाट्य का नटों के अभिनय के साथ संयोग होने पर रस निष्पन्न होता है। इस सूत्र की परवर्ती आचार्यों ने भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ की हैं और उसमें 'रस-निष्पत्ति' विषयक भिन्न-भिन्न वाद उत्पन्न हुए। भरत द्वारा कथित यह रस-तत्त्व ही अनेक आचार्यों के अध्ययन व विश्लेषण का विषय बन गया है। प्रत्येक आचार्य ने भरत मुनि के वचनों की विस्तृत व्याख्या करने का प्रयत्न किया है।

ऐसे आचार्यों में प्राचीनतम हैं, दण्डी और भट्ट लोल्लट। दण्डी का समय लगभग सातवीं शती तथा लोल्लट[१] का समय लगभग नौवीं शती है।

आश्चर्य की बात है ये आचार्य रस को सुख-दु:खादिवत् लौकिक चित्तवृत्ति मानते थे। नाट्य-प्रयोग और नट के व्यापार के सम्मिलित प्रभाव से यह चित्तवृत्ति जब परिपोप की चरम सीता तक पहुँच जाती है तब रस कहलाती है। भट्ट लोल्लट के मतानुसार रस मुख्यतया अनुकार्यगत और अनुसन्धान-बल से केवल उपचार से ही अनुकर्त्ता (नट) गत है। लोल्लट के बाद थोड़े समय में हुए शंकुक[२] ने अपने पूर्ववर्ती आचार्य के मत का स्पष्ट विरोध किया। उनके मतानुसार रस परिपुष्ट स्थायी नहीं है, किन्तु स्थायी का अनुकरण है--अनुकृत स्थायी है। नट रामादि के स्थायी का अनुकरण करता है और प्रेक्षकों को उस अनुकृत स्थायी की रसरूप में प्रतीति होती है। यह प्रतीति सत्य-मिथ्या के विचारों से मुक्त है। शंकुक कहते हैं कि चित्रकार द्वारा अंकित

---

१. देखिए, पृ० १३-१६

२. देखिए, पृ० १७-२३

घोड़ा प्रेक्षक को सत्य भी प्रतीत नहीं होता, मिथ्या भी प्रतीत नहीं होता, उसे सत्य-मिथ्या का ख्याल लागू होता ही नहीं है। सत्य-मिथ्या का विचार उत्पन्न करने के पूर्व ही वह मूर्तरूप में अनुभूत हो जाता है।

लोल्लट और शंशुक के मतों की भट्ट नायक ने सख्त आलोचना की है। भट्ट नायक[१] भारतीय रस-मीमांसा में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

भट्ट नायक के मतानुसार रस न तो परिपुष्ट स्थायी है, न ही अनुकृत स्थायी। ये दोनों मत (वाद) रसानुभूति की विशिष्ट प्रकृति को स्पष्ट समझाने में असफल हुए हैं। भट्ट नायक के मतानुसार रस एक ऐसा आनन्द है, जिसका किसी व्यक्ति के साथ सम्बन्ध नहीं है। कला द्वारा अनुभव किया जाने वाला स्थायीभाव—रति, क्रोध, दुःख आदि किसी स्वरूप का क्यों न हो—व्यवहार-जीवन का भाग बनता नहीं है, किन्तु नितान्त निर्वैयक्तिक रूप में अनुभव किया जाता है। काव्य-नाटक में होने वाली घटनाएँ व्यावहारिक जीवन के साथ किंचित्मात्र भी सम्बन्ध रखती नहीं हैं तथा इन घटनाओं का काव्य अथवा नाटक के नायक किंवा नट के जीवन से भी कोई सम्बन्ध नहीं होता है। अतः ये केवल साधारणीकृत रूप में अथवा साधारण भाव से प्रतीत होते हैं। वे व्यक्ति-सम्बद्ध नहीं है।

भट्ट नायक-प्रतिपादित रसानुभव के साधारण्य (साधारणीकरण) का अभिनवगुत ने स्वीकार किया उसमें किंचित् संशोधन भी किया। इस साधारणीकरण में स्थल-काल की सीमाएँ नहीं होती। [स्थल-काल का सम्बन्ध तो बौद्धिक सविकल्प ज्ञान से है] और इसीलिए भावक की परिमित प्रमातृत्व की सीमाएँ भी उसे होती नहीं हैं; इसका अर्थ यह हुआ। भावक स्वयं इन स्थलकालादि की सीमाओं से परिबद्ध होता है किन्तु रसानुभूति के समय, उस काल के लिए वह स्थल-काल तथा कार्य-कारण सम्बन्धों से परे तथा अपने व्यवहार-जीवन-प्रवाह से भी परे, दुनिया से ऊपर उठ जाता है।[२] कार्यकारण से प्रभावित संसार के साथ का सम्बन्ध रसानुभूति के समय स्पष्टतः छिन्न हो जाता है। रसानुभव तो जादू से खिले फूल की तरह प्रस्फुटित हो जाता है। इसका अपने पूर्ववर्ती या परवर्ती व स्वाभावित गति से चलने वाले व्यवहार-जीवन के साथ स्थलगत या कालगत कोई सम्बन्ध नहीं होता। इस प्रकार भट्ट नायक तथा अभिनवगुप्त ने रसास्वाद को लोल्लट तथा शंकुक द्वारा निरूपित प्राथमिक व अत्यन्त स्थूल अवस्था से उबार लिया है। रस कोई अनुभव के पूर्व सिद्ध प्रदार्थ नहीं है किन्तु उसकी प्रतीति ही रस है। यह प्रतीति निर्विघ्न तथा सभी व्यावहारिक प्रयोजनों से मुक्त होती है अतः वह रसरूप में आस्वादित की जाती है।[३] भावक को रसास्वाद के समय उस चर्वणा में ही अपनी सभी इच्छाओं की परिपूर्ति होती है; इस अर्थ में रस आनन्द, निर्वृति और विश्रान्ति तथा लय रूप होता

---

१. देखिए, पृ० ३९-४५

२. ,, पृ० ५५-५६

३. ,, पृ० ७२-७३

है। इसका अपने से बाहर कोई प्रयोजन नहीं है, वह सम्पूर्णत: आत्मपर्याप्त है। और इसीलिए वह आनन्दमय, निर्वृत्ति तथा विश्रान्तिरूप होता है।[१] रसानुभव के लिए सभी व्यावहारिक इच्छाओं का क्षय और भावक की विषय में ही तल्लीनता—विगलितवेद्यान्तरता—आवश्यक है। भावक के चित्त में व्यावहारिक इच्छाएँ तथा प्रयोजनों का उदय होते ही स्वत: ही रसानुभूति की एकघनता में विक्षेप होता है; ये बाह्य वृत्तियाँ उसमें विघ्नरूप हो जाती हैं, क्यांकि उनके मूल में विक्षोभक अहं स्थित होता है।[२] रसुानभव, धर्मानुभव के पारस्परिक सम्बन्ध का परीक्षण करना भारती-विचार का प्रिय विषय है तथा भट्ट नायक की, उससे भी अधिक स्पष्टरूप से इसे समझने वो अभिनवगुप्त के रस-विचार की तो यह एक विशिष्टता है। भारत में चिन्तकों ने अमूर्त विचार को उसकी संकुल आध्यात्मिकता की व्यवस्था के मूर्त साक्षात्कार से कभी अलग ही नहीं किया है। वे सदैव उसे तीवन में आचरित करने के लिए प्रयत्नशील रहे हैं। इस दार्शनिक मनोवैज्ञानिक अभिगम के फलस्वरूप आगे चलकर उन्होंने वस्तु का मानस प्रत्यय कल्पित किया है। भारतीय चिन्तन पश्चिमी चिन्तन से भिन्न मार्ग पर चला है, फिर भी उसे एक समय यह प्रतीत हुआ कि वस्तु तो ज्ञानरूप है, विचाररूप है और समग्र विश्व अन्तत: तो 'आत्म' पर आधारित है। रस-विचार भी आध्यात्मिक (दार्शनिक) विचारों के अंचल में जन्मा है, विकसित हुआ है अत: रसानुभव और धर्मानुभव के बीच का भेद व उसका अध्ययन करने वे वह चूका नहीं है। इस प्रश्न का सर्वप्रथम मुकाबला करने वाले थे—भट्ट नायक। उनके मत में रसानुभूति में भावक आस्वाद्य विषय में विगलित वेद्यान्तर भावेण लीन हो जाता है, अत: उसमें उसका व्यवहार-जीवन उस क्षण-भर के लिए स्थगित हो जाता है; इस अंश में रसानुभव ब्रह्मास्वाद सहोदर है।[३] किसी भी प्रकार का आनन्द वह दैवी परमानन्द का रूप ही है और वही चिति का प्राण है।[४] रसानुभव व्यक्तिसम्बन्धों से और व्यावहारिक प्रयोजनों से मुक्त होता है अत: वह योगी को प्राप्त परमानन्द का एक प्रकार ही है और तत्कालपर्यन्त वह संसार को निर्वाण में परिवर्तित कर देता है। योगानुभव में आत्मा का पूर्ण साक्षात्कार होने पर दु:ख भी सुख बन जाता है, वैसा ही रसानुभव के समय भी देखा जाता है। उसमें भी बहुत तीव्र शोक को निर्विघ्न चर्वणा में, तन्मयतारूप आनन्द में परिवर्तित कर देने की अद्‌भुत (जादुई) शक्ति है। दु:ख जो रजस्‌ का धर्म है और चांचल्य व अविश्रान्ति रूप है, उसे रसानुभव में स्थान ही नहीं है, क्योंकि रसानुभव का अर्थ ही विश्रान्ति, निर्वृत्ति तथा सर्व इच्छाओं की परिपूर्ति है।[५]

---

१. देखिए, पृ० ४३-६०

२. ,, पृ० ४७

३. ,, पृ० ४३-४४

४. ,, पृ० ६६

५. ,, पृ० ६६

अभिनवगुप्त ने भट्ट नायक की व्याख्या स्वीकार की, किन्तु साथ ही उन्होंने रसानुभव और योगानुभव की भेदक रेखा भी स्पष्ट खींच दी। धर्मानुभव में सभी द्वन्द्व पूर्णरूप से नष्ट होते हैं। ईश्वर की द्रावक अग्नि में सभी भेद गल जाते हैं। चिति की प्रोज्ज्वल ज्वाला में चन्द्र, सूर्य, रात-दिवस, शुभ-अशुभ सब भस्म हो जाता है। फिर योगी अपने चित्त की एकघनता में विकल्प विचार से दूर-दूर अकेला रहता है।[1] परन्तु रसानुभव में भले ही व्यवहार-जीवन के भाव व घटनाएँ रूपान्तरित हुई हों, सदैव बनी रहती हैं। अर्थात् एक तरफ से रसानुभव अपने शुद्ध और सच्चे स्वप में सामान्य अनुभव या प्रतीति से भिन्न है और इसलिए बौद्धिक सविकल्प ज्ञान जैसा नहीं है, तो दूसरी तरफ इसके विषय की दृष्टि से सभी व्यक्ति-सम्बन्धों से मुक्त ऐसा व्यवहार-जीवन ही उसका विषय है, अतः रसानुभव भी किसी भी प्रकार के सविकल्प ज्ञानवत् ही है। कला का अर्थ जीवन का अभाव नहीं है—(कलानुभव में जीवन के सभी तत्त्व समाविष्ट हैं)—यह तो जीवन ही है। वह तो केवल सभी विषयों से विमुख व शान्त है। (तत्र सर्वरसानां शान्तप्राय एवास्वादः, विषयेभ्यो विपरिवृत्त्या। —अभिनवभारती, खं० १, पृ० ३३९) और भक्ति तो यह चाहती है कि भक्त परमेश्वर के प्रति सम्पूर्ण समर्पण कर दे।[2]

ईश्वर यों तो सर्वव्यापी है और उसका विचार करने वाला विचार के साथ एकरूप होता है, फिर भी अभिनवगुप्त के मतानुसार योगानुभव के क्षण उससे भिन्न व पर बन जाता है।[3]

योगी का लक्ष्य उस 'पर' तत्त्व से तादाम्य साधित करना होता है। अतः धार्मिक भक्ति में अपने से बाहर किसी ध्येय के प्रति निरन्तर गति गर्भित है और रसानुभूति तो उससे बिलकुल उलटी ही वस्तु है। रसानुभूति तो पूर्णतः आत्मपर्याप्त होती है। काव्य भाषा की प्रकृति कैसी होती है? इस प्रश्न ने ९वीं शती में आनन्दवर्द्धन का ध्यान आकृष्ट किया था। वह अपने योग्य रीति से ही प्रसिद्ध हुए ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' में कुछ ऐसे निर्णय पर पहुँचे थे जिनमें से प्रायः सभी—अल्प अपवादों को छोड़कर परवर्ती आचार्यों द्वारा स्वीकृत हुए हैं। १५० वर्ष बाद अभिनवगुप्त ने उस ग्रन्थ पर टीका लिखी थी। आनन्दवर्द्धन कहते हैं कि काव्य-भाषा गद्य की व्यवहार-भाषा से भिन्न होती है,

---

१. देखिए, पृ० ७६

२. 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञादर्शनविवृत्तिविमर्शिनी', खण्ड १, पृ० २५ पर भक्ति को 'परमेश्वरविषय-वैवेश्यसमावेश रूपा' कहा गया है।

३. विमर्श अथवा संवित् स्वयं तो ज्ञाता है, फिर भी वह जब ज्ञान का विषय बनता है, अर्थात् जब संवित् का विचार किया जाता है या उसका ध्यान किया जाता है, तब वह अहं, आत्मा, चिचि (संवित्) ईश्वर, परमेश्वर, शिव आदि का रूप धारण करता है। यह विचार 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृत्तिविमर्शिनी' में तथा 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृत्ति', खं० १-५, श्लो० १५-१७ में विस्तार से विवेचित है। तुलना कीजिए ई० वि० ख० १, पृ० ५५-५६

वह वाचक में प्रतिघोष व भाव उजागर करती है। संक्षेप में वह रसानुभव कराती है। गद्य ऐसा नहीं करता। वह तो केवल जानकारी व उपदेश ही देता है। गद्य के शब्दों की दो अथवा किन्हीं-किन्हीं के मतों से तीन शक्तियाँ होती हैं जिनमें मुख्य अभिधा होती है तथा वह संकेतित अर्थ का बोध कराती है। रसोद्‌बोध को तथा वाच्यार्थबोध को एक या अभिन्न नहीं समझा जा सकता। आनन्दवर्द्धन रसानुभूति को एक शक्ति, व्यापार या वृत्ति के रूप में कल्पित करते हैं। वह अकल्पनीय ढंग से और असंलक्ष्यक्रम से एक नवीन अर्थ का बोध कराता है। वह अर्थ वाच्यार्थ से भिन्न होता है। वही रस है। उसे ही इस सम्प्रदाय ने ध्वनि या रसध्वनि ऐसा नाम दे दिया है। अपनी टीका में अभिनवगुप्त रस और शब्द के पारस्परिक सम्बन्ध को समझाते हैं। यह न तो प्रकृति-गोचर कार्य-कारण सम्बन्ध है, न तो ज्ञानशास्त्र में निरूपित ज्ञाप्य-ज्ञापक सम्बन्ध ही। परन्तु वह सम्बन्ध व्यंग्य-व्यंजक सम्बन्ध है। रस कवि के शब्द से न तो उत्पन्न ही होता है, न ज्ञात ही, किन्तु वह तो अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार काव्य-शब्द से उत्पन्न या ज्ञान नहीं किन्तु अभिव्यक्त होने वाले रस को अपने पूर्व या पर की किसी स्थिति से कोई लेना-देना (सम्बन्ध) नहीं है किन्तु व्यवहार-जगत् के प्रवार में वह एक अद्‌भुत अंगरूप होता है। अभिनवगुप्त के मतानुसार गद्य शब्द तो केवल जानकारी (ज्ञान) साधन है। और उसका कार्य पूर्ण हो अर्थात् उसके अर्थ का बोध हो जाने पर उसका कोई उपयोग नहीं होता है। इसके विपरीत काव्य का शब्द तो स्वयं ही साध्य है। एक बार उसे पढ़ा हो अथवा उसका आस्वादन किया हो, फिर भी उसका मूल्य जरा भी कम नहीं होता, वह बिलकुल वैसे का वैसा नया ही रहता है। परम्परागत तथा भट्ट नायक के विरुद्ध जाकर अभिनवगुप्त मानते हैं कि कला उपदेश नहीं देती है, अगर देती भी है तो परोक्ष पद्धति से ही देती है एवं भावक की प्रतिभा को अथवा सहृदयता को केवल वर्द्धित करती है।

रसानुभव का मुख्य सम्बन्ध भावक के साथ है। उसकी चर्चा के साथ ही भारत में कृतिकार जिस क्षण अपनी कृति में प्राण फूँकता है, उस सृजन-क्षण काभी विचार लग हुआ है। काव्योत्पत्ति का विचार करने वाले आचार्यों में आनन्दवर्द्धन, भट्ट तौत और अभिनवगुप्त तीन मुख्य हैं। आनन्दवर्द्धन कहते हैं :

अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथोदं परिवर्तते॥

"अपार काव्य-संसार में कवि ही एक प्रजापति है। उसे जैसा रुचता है, वैसा सब कुछ पलट जाता है।" कवि तो ऋषि भी हो सकता है और वर्णनानिपुण भी होता है। वस्तुतः तो रस कवि में ही रहा होता है। वह उसकी साधरणीभूत संवित् होती है।[१] कवि जब

---

१. 'कविगतसाधारणीभूतसंविन्मूलश्च काव्यपुरःसरो नटव्यापारः, सैव च संवित् परमार्थतो रसः।' अभिनवभारती, खं० १, पृ० २९४

रस से लबालब भर जाता है तब पानी से भरे हुए घड़े की तरह काव्य के रूप में वह छलक जाता है जिस प्रकार भावावेश के समय अभावित उद्गार होते हैं वैसे।[१]

इसका अर्थ यह है कि काव्य कवि के अन्तर्गत साधारणीभूत भाव का अर्थात् स्थल-काल तथा व्यक्तिरहित भाव का अव्यहित उच्चार है। इसमें लौकिक लाभ-अलाभ का कोई स्थान नहीं है। कवि में स्थित संस्काररूप प्रतिभा के बल पर वह प्रकट होता है।[२] यही साधरणीभाव काव्य में व्यक्त होता है तथा व्यक्त होने के बाद वह नट में या पाठक में एवं प्रेक्षक में संक्रमित होता है।[३] वह कवि-हृदय में जन्म लेता है, नट में खिलता है और भावक में फलता है।[४] इस प्रकार काव्यनाट्य के भावन में वस्तुतः तीनों मिल कर एक भावक बन जाते हैं तथा इन तीनों का अनुभव एक ही होता है।[५]

अभिनव-परवर्ती कतिपय आचार्यों ने कहा है कि सृजन का क्षण केवल आनन्द का क्षण नहीं होता, उसमें चिन्ता, श्रमादि भी होते हैं। इस प्रकार वे सृजन-प्रक्रिया के दो विभाग कर देते हैं : प्रथम भूमिका में कवि सृजन को थका दे ऐसी प्रवृत्ति में लीन होता है, दूसरी में वह स्वयं मानो अपने आपसे अलग निकल कर अपनी ही कृति का भावकवत् आस्वादन करता है।[६]

---

१. 'रसपरिपूर्णकुम्भोच्चलनवच्चित्तवृत्तिनिष्यन्दस्वभाववाग्निलापादिवच्च' ध्वन्यालोक, पृ० ८६, अभिनवगुप्त कहते हैं कि कविता तो रससमुच्चलनस्वभावा—होती है। (ध्वन्यालोक, पृ० ८७) वहीं, अभिनवगुप्त ने भट्टनायक का एक श्लोक उद्धृत किया है—यावत्पूर्णो न चैतेन तावन्नैव वमत्यमुम्'

२. अभिनवभारती, खं० १, पृ० ३४५ पर कहा है कि 'कविः वर्णनानिपुणस्य यः (भावो) अन्तर्गतोऽनादिप्राक्तनसंस्कारप्रतिभानमयो, न तु लौकिकविषयजो देशकालदिभेदाभावात् सर्वसाधारणीभावेनास्वादयोग्यस्तं भावयन् आस्वादयोग्यी कुर्वन्'-पाठ संदिग्ध है। (तुलना कीजिए, ध्वन्यालोक, पृ० ४९८)

३. अभिनवभारती, खं० २, पृ० ३३९ पर अभिनवगुप्त कहते हैं कि सहृदयत्व अर्थात् कवि के हृदय के साथ तादात्म्य साधने की शक्ति। कविहृदयतादात्म्यापत्तियोग्यता।

४. अभिनवभारती, खं० १, पृ० २९४ : 'ततोवृक्षस्थानीयं काव्यम्। पत्र पुष्पादिस्थानीयोऽभिनयादि नटव्यापारः। तत्र फल स्थानीयः सामाजिक रसास्वादः'

५. भट्ट तौत का अभिनवगुप्त द्वारा 'ध्वन्यालोक-लोचन' में उद्धृत श्लोक देखिए :—
'नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः' पृ० ९२

६. हेचन्द्र विवेक में पृ० ४ पर कहते हैं—
'कवेरपि भावकावस्थायामेव रसास्वादः सम्पद्यते पृथवगेव हि कवित्वाद्भावकत्वम्।
माणिक्य चन्द्र कहते हैं (पृ० ७) कि सृजन के क्षणों में कवि काव्यार्थ की चिन्ता में लीन होता है [काव्यार्थ चिन्तन पर] यह विचार ठेठ अभिनवगुप्त तक पहुँच गया ऐसा मानना—नितान्त उपेक्षणीय नहीं है। (उसने अपने ग्रन्थ 'काव्य कौतुक विवरण' में इसकी चर्चा की हो ऐसा सम्भव है; किन्तु वह ग्रन्थ आज अनुपलब्ध है। इसमें सृजन की पूर्ण चर्चा की गयी थी।) ध्वन्यालोक में पृ० १६ पर अभिनव गुप्त कहते हैं कि कवि किसी लौकिक भाव के वशीभूत नहीं होता। अतः वह दुःखानुभव करता नहीं होता; किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वह सृजन प्रयत्न की चिन्ता से व्यग्र नहीं है।

भाव को स्थलकालादि से मुक्त कर रस में रूपान्तरित करनेवाली शक्ति, प्रतिभा है। प्रतिभा ही चिति, आत्मा है। अधिकांश व्यक्तियों में वह स्थलकाल की तथा व्यवहार के सम्बन्धों की मर्यादा के बन्धनों में से अपने को मुक्त कर नहीं पाती, परन्तु कवि में वह शुद्ध तेज (प्रकाश) के रूप में प्रकाशमान होती है और योगियों में तो अपने सम्पूर्ण तेज से प्रकाशित हो उठती है।[१]

कलाकृति का सृजन एक नये विश्व के सृजन के सदृश है जो कवि की प्रतिभा में एकदम खिल उठता है। यह सर्जक प्रतिभा ही परावाक् वही अचेतन पदार्थों को चेतनायुक्त तता चेतन पदार्थों को अचेतन बना देती है।[२] वह नवनवोन्मेष का अक्षय भण्डार तथा उद्भव स्थान है।[३] और उसके द्वारा सर्जित रूप संसार के रूपों की तुलना में जरा भी कम सत्य नहीं होते, भले ही भिन्न भूमिका पर हों।

इस दृष्टि से विचार करने पर कवि-प्रतिभा विश्व-प्रतिभा का ही एक तत्त्व है। यह विश्व-प्रतिभा ही विश्व का सृजन करती है और उसे निरन्तर नवीन रूप प्रदान करती रहती है।[४]

हेमचन्द्र ने बहुधा भट्ट तौत के ही तीन श्लोक उद्धृत किये हैं जिनमें....

यथा यथा चाकृतकं तद्रूपमतिरिच्यते।
तथा तथा चमत्कारतारतम्यं विभाव्यते॥
आद्यमयीय वर्णान्तर्निमग्ने चोत्तरोत्तरे।
संकेते पूर्व पूर्वाशमज्जने प्रतिभाभिदः॥
आद्योद्रेकमहत्त्वेऽपि प्रतिभात्मनि निष्ठितः।
ध्रुवं कवित्त्ववक्तृत्वशालितां यान्ति सर्वतः॥
यावद्धामनि संकेत निकारकलनोज्झिते।
विश्रान्तश्चिन्मये किं किं न वेत्ति न करोति च॥

---

१. यह विचार तंत्रालोक में खं० ११, पृ० ६०-६२ पर व्यक्त किया गया है।

२. तुलना कीजिए, ध्वन्यालोक, पृ० ४९८

भावानचेतनानपि चेतनवच्चेतनानचेतनवत्।
व्यवहारयति यथेष्टं सुकविः काव्ये स्वतन्त्रया॥

३. भट्ट तौत ने प्रतिभा की परिभाषा एक अति प्रसिद्ध श्लोक में इस प्रकार दी है। 'प्रज्ञा नवनवोन्मेष शालिनी प्रतिभामता।' प्रतिभा एक प्राकर की प्रज्ञा है। प्रज्ञा और प्रतिभा का सामान्य अर्थ भविष्य का एकदम होने वाला ज्ञान है। जैसा कि 'कल मेरा भाई मुझसे मिलेगा'–आदि। राजशेखर तीन प्रकार की बुद्धि बतलाते हैं। भूतकालीन अर्थ की स्मृति देने वाली—स्मृति, वर्तमान का चिन्तन करानेवाली मति और अनागत का विशेष ज्ञान करानेवाली प्रज्ञा (काव्य मीमांसा—४) काव्यप्रतिभा प्रत्यक्षकल्प होती है। और वह निर्विकल्प होती है

४. आनन्दवर्द्धन, ध्वन्यालोक, पृ० ९१ पर कहते हैं कि कविप्रतिभा का विशष प्रकार (प्रतिभाविशेषम्) है। उस पर अभिनव टीका करते हुए कहते हैं 'प्रतिभा' अपूर्व वस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा;तस्या 'विशेषो' रसावेशवैशद्यसौन्दर्यं० काव्यनिर्माणक्षमत्वम्। शैव दर्शनमें प्रतिभा को सर्जक विसर्ग कहा गया है। तन्त्रालोक खं० ५, पृ० ४३२ पर कहा गया है—विसर्गानन्दधारया। सिक्तं तदेव सद्विश्वं शश्वन्नवनवायते॥

सर्जक प्रतिभा तथा बुद्धि के बीच का भेद तथा उनकी विशेषताएँ स्पष्ट की गयी हैं।[1] इन श्लोकों में ज्ञान के दो प्रकार को बताया गया है—१. बुद्धिगम्य अर्थात् विकल्प गोचर ज्ञान, सामान्य विषयक ज्ञान तथा २. विशेष विषयक ज्ञान, जो बुद्धि व्यापार के पूर्व उत्पन्न होता है और भाषा के क्षेत्र के बाहर की चीज है। अन्तिम श्लोम में कहा है कि प्रत्यक्ष का विषय विशेष है और वही प्रतिभाशील सत्कवियों की वाणी का विषय होता है। इस प्रकार प्रतिभा एक प्रकार की साक्षारात्मक प्रज्ञा है और कवि जब रचना के पूर्व की खोज में तथा श्रम में डूबा होता है तब वस्तु के स्वरूप लक्षण के स्पर्श से वह एकदम प्रगटित हो उठती है। अर्थात् उसमें मन का व्यापार होता नहीं है। योगचिन्तन के क्षेत्र से उधार उपमा लेकर कवि-प्रतिभा को शिव का तृतीय नेत्र कहा गया है। इससे कवि त्रिकालवर्ती पदार्थों का बुद्धि की सहायता के बिना ही साक्षात्कार कर सकता है।[2]

न्याय की तथा व्यवहार की भाषा वस्तु तथा हमारी चिति के बीच व्यवधान रूप बन जाती है। काव्य की तथा व्यवहार की भाषा के बीच अन्तर यह है कि काव्य की भाषा में ये भूमिकाएँ होती ही नहीं हैं; और इससे उस वस्तु का स्वरूप विकल्प ज्ञान में बँधने के पूर्व ही उसका साक्षात्कार करती है। इस अर्थ में काव्य की भाषा सहजोद्गारों के सदृश काकुवत् या मन्त्रवत् होती है।[3]

अभिनव गुप्त के बाद भी आज तक रस शास्त्र का अध्ययन भारत में चालू रहा है; किन्तु इसमें कोई नवीन परिबल (तत्त्व) प्रगट नहीं हुआ। आनन्दवर्द्धन, भट्ट तौत और अभिनव ही अधिक-से-अधिक विशेषता रखने वाले विचारक हैं। कभी-कभी अनिश्चित तथा युक्ति-पूर्ण प्रतीत होने पर भी अभिनव गुप्त कतिपय ऐसे निर्णयों पर

---

१. विवेक, पृ० ३८० :
उच्यते वस्तुनस्तावद् द्वैरूप्यमिह विद्यते।
तत्रैकमत्र सामान्यं यद् विकल्पैकगोचरः॥
स एव सर्वशब्दानों विषयः परिकीर्तितः।
अतएवाभिधेयं ते ध्यामलं बोधयन्त्यलम्॥
विशिष्टमस्य यद्रूपं तत्प्रत्यक्षगोचरः।
स एव सत्कविगिरां गोचरः प्रतिभाभुवम्॥

२. हेमचन्द्र विवेक, पृ० ३८० :
रसानुगुण शब्दार्थचिन्तारित्तमित चेतसः
क्षणं स्वरूपर्स्योत्था प्रज्ञैव प्रतिभा कवेः।
सा हि चक्षुर्भगवतस्तृतीयमिति गीयते।
येन साक्षात्करोत्येष भावांस्त्रैलोक्यवर्तिनः॥

३. परात्रिंशिका विवरण, पृ० २०२ पर अभिनव गुप्त कहते हैं :—
एता एव हि (स्वराः) चित्तवृत्तिसूचका नादात्मकाः करुण शृंगार शान्तादिकां चित्तवृत्तिस्क्रन्दन चाटुकरस्तुत्यादौ केवला वा योनिवर्णननिविष्टा वा तिर्यक् तत्तहदर्जातादिष्वपि प्रथमत एवापतन्तः संकेतविघ्नादिनैरपेक्ष्येनैव संविदासन्नवर्तित्वा-त्स्वरकाक्वादिरूपतामश्नुवानाः प्रकाशयन्ति।

पहुँचे हैं, जो पश्चिम में कान्ट द्वारा स्थापित यह दर्शन कि कला व्यावहारिक लाभालाभ से परे तथा आत्मा की प्रवृत्ति है, भारत में ठेठ दशवीं शती में चर्चा (विवेचन) का विषय बन चुका था। अभिनव गुप्त तथा आनन्दवर्द्धन कहते हैं कि काव्य तो निर्वाण है। वह आज है और सदैव रहेगा। प्रेम की भाँति उसने मानव-हृदय को नये व स्पंदनशील जीवन से चेतनायुक्त बना दिया है तथा बनाता रहेगा। वह मानव प्रकृति का आवश्यक व स्वतन्त्र अंश है और कवि गण उसके स्रोत में से ग्रहण करते हु कभी रुकने वाले नहीं हैं। वह केवल अधिक-से-अधिक शुद्ध व नये-नये अनुभवों से समृद्ध होता रहेगा।*

⁂

*. 'The Aesthetic Experience According to Abhinava Gupta' की प्रस्तावना

नाट्यशास्त्रे

तत्र रसानेव तावदादावभिव्याख्यास्यामः।
न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।
तत्र विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।

रसविपयं तक्षणसूत्रमाह—विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः। अत्र भट्टलोल्लटप्रभृतयस्तावदेवं व्याचख्युः—विभावादिभिः संयोगोऽर्थात् स्थायिनस्ततो रसनिष्पत्तिः। तत्र विभावश्चित्तवृत्तेः स्थाय्यात्मिकाया उत्पत्तौ कारणम्। अनुभावाश्च न रसजन्या अत्र विवक्षिताः। तेषां रसकारणत्वेनगण-नानर्हत्वात्। अपि तु भावानामेव। (ते) येऽनुभावाः व्यभिचारिणश्च चित्तवृत्त्यात्मकत्वात् यद्यपि न सहभाविनः स्थायिना तथापि वासनात्मनेह तस्य विवक्षिताः। दृष्टान्तेऽपि व्यञ्जनादिमध्ये कस्यचिद्वासनात्मकता स्थायिवत्। अन्यस्योद्भूतता व्यभिचारिवत्। तेन स्थाय्येव विभावानुभावादिभिरुपचितो रसः। स्थायी भवत्वनुपचितः। स चोभयोरपि। [मुख्यया वृत्या रामादौ] अनुकार्येऽनुकर्तर्यपि चानुसन्धानबलात्—इति।

चिरन्तनानां चायमेव पक्षः। तथा हि दण्डिना स्वालङ्कारलक्षणेभ्यधायि।
"रतिः शृङ्गारतां गता रूपबाहुल्ययोगेन" इति (काव्यादर्शे २-२८१)
"अधिरूह्य परां कोटिं कोपो रौद्रात्मतां गतः।" (काव्यादर्शे २-२८३)। इत्यादि च।

एतन्नेति श्रीशङ्कुकः। विभावाद्ययोगे स्थायिनो लिङ्गाभावेनावगत्यनु-पपत्तेर्भावानां पूर्वमभिधेयताप्रसङ्गात् स्थितदशायां लक्षणान्तरवैयर्थ्यात् मन्द-तरतममाध्यस्थाद्यानन्त्यापत्तेः, हास्यरसे षोढात्वाभावप्राप्तेः, कामावस्थासु दशस्वसङ्ख्यरसभावादिप्रसङ्गात्, शोकस्य प्रथमं तीव्रत्वं कालात्तनुमान्द्यदर्शनं क्रोधोत्साहरतीनाममर्षस्थैर्यसेवाविपर्यये ह्रासदर्शनमिति विपर्ययस्य दृश्यमान-त्वाच्च।

तस्माद्धेतुभिर्विभावाख्यैः कार्यैश्चानुभावात्मभिः सहचारिरूपैश्च व्यभिचारिभिः प्रयत्नार्जिततया कृत्रिमैरपि तथानभिमन्यमानैरनुकर्तृस्थत्वेन लिङ्गबलतः प्रतीयमानः स्थायी भावो मुख्यरामादिगतस्थाय्यनुकरणरूपः। अनुकरणरूपत्वादेव च नामान्तरेण व्यपदिष्टो रसः। विभावा हि

काव्यबलानुसन्धेयाः। अनुभावाः शिक्षातः। व्यभिचारिणः कृत्रिम निजानुभावार्जनबलात् स्थायी तु काव्यबलादपि नानुसन्धेयः। 'रतिः शोक' इत्यादयो हि शब्दा रत्यादिकमभिधेयीकुर्वन्त्यभिधानत्वेन। न तु वाचिका-भिनयरूपतयाऽवगम- यन्ति। न हि वागेव वाचिकम्। अपि तु तया निर्वृत्तम्। अङ्गैरिवाङ्गिकम्। तेन—

["विवृद्धात्माऽप्यगाधोऽपि दुरन्तोऽपि महानपि।]
वाडवेनेव जलधिः शोकः क्रोधेन पीयते॥" इति।

तथा—

"शोकेन कृतः स्तम्भः तथा स्थितो योऽनवस्थिताक्रन्दैः।
[हृदयम्फुटनभयार्त्तैरर्दितुमभ्यर्थ्यते सचिवैः।"]

इत्येवमादौ न शोकोऽभिनेयः, अपितु त्वभिधेयः।

"भाति पतितो लिखन्त्याः तस्या बाष्पाम्बुशीकरकणौघः।
स्वेदोद्गम इव करतलसंस्पर्शादेष मे वपुषि॥"] (रत्ना २-२१)

इत्यनेन तु वाक्येन स्वार्थमभिदधता उदयनगतः सुखात्मा रतिः स्थायी-भावोऽभिनीयते न तूच्यते। अवगमनशक्तिर्ह्यभिनयनं वाचकत्वादन्या। अत एव स्थायिपदं सूत्रे भिन्नविभक्तिकमपि नोक्तम्। तेन रतिरनुक्रियमाणा शृङ्गार इति तदात्मकत्वं तत्प्रभवत्वं च युक्तम्। अर्थक्रियापि मिथ्याज्ञानदृष्टा (नादृष्टा)—

["मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याभिधावतोः।
मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति॥" इति।]

न चात्र नर्तक एव सुखीति प्रतिपत्तिः। नाप्ययमेव राम इति। न चाप्ययं न सुखीति। नापि रामः स्याद्वा न वायमिति। न चापि तत्सदृश इति। किन्तु [सम्यङ्मिथ्यासंशयसादृश्यप्रतीतिभ्यो विलक्षणा चित्रतुरगादिन्यायेन] यः सुखी रामः असावयमिति प्रतीतिरस्तीति। तदाह—

"प्रतिभाति न सन्देहो न तत्त्वं न विपर्ययः।
धीरसावयमित्यस्ति नासावेवायमित्यपि॥
विरुद्धबुद्धिसम्भेदादविवेचितसंप्लवः।
युक्त्या पर्यनुयुज्येत स्फुरन्ननुभवः कया॥ इति।

तदिदमप्यन्तत्तत्त्वशून्यं न विमर्दक्षममित्युपाध्यायाः। तथा हि— अनुकरणरूपो रस इति यदुच्यते तत्किं सामाजिकप्रतीत्यभिप्रायेण उत नटाभिप्रायेण किं वा वस्तुवृत्तविवेचकव्याख्यातृबुद्धिसमवलम्बनेन 'यथाहुर्व्या-ख्यातारः खल्वेवं विवेचयन्ति' इति।

अथ भरतमुनिवचनानुसारेणद्यः पक्षोऽसङ्गतः। किञ्चिद्धि प्रमोणनोपलब्धं सदनुकरणमिति शक्यं वक्तुम्। यथा 'एवमसौ सुरां पिबति' इति

सुरापानानुकरणत्वेन पय:पानं प्रत्यक्षावलोकितं प्रतिभाति। इह च नटगतं किं तदुपलब्धं सदनुकरणतया भातीति चिन्त्यम्। तच्छरीरं तन्निष्ठं प्रतिशीर्षकादि रोमाञ्चगद्गदिकादिभुजाक्षेपवलनप्रभृति भ्रूक्षेपकटाक्षादिकं च न रतेश्चित्तवृत्ति-रूपतयानुकारत्वेन कस्यचित्प्रतिभाति। जडत्वेन [भिन्नेन्द्रियग्राह्यत्वेन] भिन्नाधिकरणत्वेन च ततोऽतिवैलक्षण्यात्। मुख्या [मुख्या] वलोकने च तदनुकरणप्रतिभासः। न च रामगतां रतिमुपलब्धपूर्विणः केचित्। एतेन रामानुकारो नट इत्यपि निरस्तः प्रवादः।

अथ नटगता चित्तवृत्तिरेव प्रतिपन्ना सती रत्यनुकारः शृंगार इत्युच्यते, तत्रापि किमात्मकत्वेन सा प्रतीयत इति चिन्त्यम्। ननु प्रमदादिभिः कारणैः कटाक्षादिभिः कार्यैः धृत्यादिभिश्च सहचारिभिर्लिङ्गभूतैर्या लौकिकी कार्यरूपा कारणरूपा सहचारिरूपा च चित्तवृत्तिः प्रतीतियोग्या तदात्मकत्वेन सा नटचित्तवृत्तिः प्रतिभाति हन्त तर्हि रत्याकारेणैव सा प्रतिपन्नेति दूरे रत्यनुकरणतावाचोयुक्तिः।

ननु ते विभावादयोऽनुकार्ये पारमार्थिकाः। इह त्वनुकर्तरि न तथेति विशेषः। अस्त्वेम्। किन्तु ते हि विभावादयोऽतत्कारणातत्कार्यातत्सहचाररूपा अपि काव्यशिक्षादिबलोपकल्पिता कृत्रिमाः सन्तः किं कृत्रिमत्वेन सामाजिकैः गृह्यन्ते न वा। यदि गृह्यन्ते तदा तैः कथं रतेरवगतिः।

नन्वत एव तत्प्रतीयमानं रत्यनुकरणबुद्धेः कारणम्। कारणान्तरप्रभवेषु हि कार्येषु (सु) शिक्षितेन तथा ज्ञाने वस्त्वन्तरस्यानुमानं तावद्युक्तम्। असुक्षिक्षितेन तु तस्यैव प्रसिद्धस्य कारणस्य। यथा वृश्चिकविशेषाद्गो-मयस्यैवानुमानम्। वृश्चिकम्यैव तत्परं मिथ्याज्ञानम्। यत्रापि लिङ्गज्ञानं मिथ्या न तदाभासानुमानमयुक्तम्। न हि वाष्पाद्धूमत्वेन ज्ञातादनुकारप्रतिभासमानादपि लिङ्गात्तदनुकारानुमानं (नम)युक्तम्।

धूमानुकारत्वेन हि ज्ञायमानान्नीहारानाट्य (ग्न्य)नुकारजपापुष्पप्रतीतिर्दृष्टा।

नन्वक्रुद्धोऽपि नटः क्रुद्ध इव भाति। सत्यम्। क्रुद्धेन सदृशः। सादृश्यं च भ्रुकुट्यादिभिः। गौरिव गवयेन मुखादिभिरिति। नैतावताऽनुकारः कश्चित्। न चापि सामाजिकानां सादृश्यमतिरस्ति। सामाजिकानां च न भावशून्या नर्तके प्रतिपत्तिरित्युच्यते अथ च तदनुकारप्रतिभास इति रिक्ता वायोचुक्तिः।

यच्चोक्तं रामोऽयमित्यस्ति प्रतिपत्तिः यदि तदात्वेति (वि)निश्चितं तदुत्तरकालभाविबाधकवैधुर्याभावे कथं न तत्त्वज्ञानं स्यात्। वाधकसद्भावे वा कथं न मिथ्याज्ञानम्। वास्तवेन च वृत्ते वाधकानुदयेऽपि मिथ्याज्ञानमेव स्यात्।

तेन विरुद्धबुद्धिसंभेदादित्यसत्। नर्तकान्तरेऽपि च रामोऽयमिति प्रतिपत्तिरस्ति। ततश्च रामत्वं सामान्यरूपमित्यायातम्।

यच्चोच्यते विभावाः काव्यादनुसन्धीयन्ते (इति) तदपि न विद्मः। न हि 'ममेयं सीता काचित्' इति स्वात्मीयत्वेन प्रतिपत्तिर्नटस्य। अथ सामाजिकम्य तथा प्रतीतियोग्याः, क्रियन्त इत्येतदेवानुसन्धानमुच्यते तर्हि स्थायिनि सुतरामनुसन्धानं स्यात्। तस्यैव हि मुख्यत्वेन 'अस्मिन्नयम्' इति सामाजिकानां प्रतिपत्तिः।

यत्तु 'वाग्वाचिकम्' इत्यादिना भेदाभिधानसंरम्भगर्भमहीयानभिनयरूपताविवेकः कृतः स उत्तरत्र स्वावसरे (ना. शा. अ-१४)चर्चयिष्यते। तस्मात्सामाजिकप्रतीत्यनुसारेण स्थाय्यनुकरणं रस इत्यसत्।

न चापि नटस्येत्थं प्रतिपत्तिः 'रामं तच्चितवृत्तिं वाऽनुकरोमि' इति। सदृशकरणं हि तावदनुकरणमनुपलब्धप्रकृतिना न शक्यं कर्तुम्। अथ पश्चात्करणमनुकरणं तल्लोकेऽप्नुकरणात्मतातिप्रसक्ता। अथ न नियतस्य कस्यचिदनुकारः अपि तूत्तम प्रकृतेः शोकमनुकरोति, तर्हि केनेति चिन्त्यम्। न तावच्छोकेन तस्य तदभावात्। न चाश्रुपातादिना शोकस्यानुकारः तद्वैलक्षण्यादित्युक्तम्। इयत्तु स्यात्उत्तमप्रकृतेर्ये शोकानुभावाःताननुकरोमीति। तत्रापि कस्योत्तमप्रकृतेः। यस्य कस्यचिदिति चेत्सोऽपि विशिष्टतां विना कथं बुद्धावारोपयितुं शक्यः। य एवं रोदितीति चेत्स्वात्मापि मध्ये नटस्यानुप्रविष्ट इति गलितोऽनुकार्यानुकर्तृभावः।

किञ्च नटः शिक्षावशात्स्वविभावस्मरणाच्चित्तवृत्तिसाधारणीभावेन हृदयसंवादात्केवलमनुभावान्प्रदर्शयन् काव्यमुपचितकाकुप्रभृत्युपस्कारेण पठंश्चेष्टत इत्येतावन्मात्रेऽस्य प्रतीतिर्नत्वनुकारं वेदयते। कान्तवेषानुकारवद्धि न रामचेष्टितस्यानुकारः। एतच्च प्रथमाध्यायेऽपि दर्शितमस्माभि। नापि वस्तुवृत्तानुसारेण तदनुकारत्वम्। अनुसंवेद्यमानस्य वस्तुवृत्तत्वानुपपत्तेः। यच्च वस्तुवृत्तं तद्दर्शयिष्यामः। न मुनिवचनमेवंविधमस्ति क्वचित्स्थाय्यनुकरणं रसा इति। नापि लिङ्गमात्रार्थे मुनेरुपलभ्यते। प्रत्युत ध्रुवागानलतालवैचित्र्यलास्योङ्गोपजीवनं(न)निरूपणादि विपर्यये लिङ्गमिति सन्ध्याङ्गाध्यायान्ते वितनिष्यामः। 'सप्तद्वीपानुकरणम्' (ना. शा. १-११७)इत्यादि त्वन्यथापि शक्यगमिनकमिति। तदुनकारेऽपि च क्व नामान्तरं कान्तवेषगत्यनुकरणादौ।

यच्चोच्यते वर्णकैर्हरितालादिभिः संयुज्यमान एव गौरित्यादि। तत्र यद्यभिव्यज्यमान इत्यर्थोऽभिप्रेतः। तदसत्। न हि सिन्दूरादिभिः पारमार्थिको गौरभिव्यज्यते प्रदीपादिभिरिव। किन्तु तत्सदृशः समूहविशेषो निर्वर्त्यते। अत

एव हि सिन्दूरादयो गवावयवसन्निवेशसदृशेन सन्निवेशविशेषेणावस्थिता गोसदृगिति प्रतिभासस्य विषयः। नैवं विभावादिसमूहो रतिसदृशताप्रतिपत्तिग्राह्यः। तस्माद्भावानुकरणं रसा इत्यसत्।

येन त्वभ्यधायि—सुखदुःखजननशक्तियुक्ता विषयसामग्री बाह्यैव। साङ्ख्यदृशा सुखदुःस्वभावो रसः। तस्यां च सामग्र्यां द(त)लस्थानीया विभावाः। संस्कारकाः अनुभावव्यभिचारिणः। स्थायिनस्तु तत्सामग्रीजन्या आन्तराः सुखदुःखस्वभावा इति। तेन 'स्थायिभावान् रसत्वम्' इत्यादावुपचारमङ्गीकुर्वता ग्रन्थविरोधं स्वयमेव बुध्यमानेन दूषणाविष्करणमौर्ख्यात् प्रामाणिको जनः परिरक्ष(क्षि)त इति किमस्योच्यते। यत्त्वत्यन्तं नः प्रतीतिवैषम्यप्रसङ्गादि तत्किं यदत्रोच्यताम्।

भट्टनायकस्त्वाह—रसो न प्रतीयते। नोत्पद्यते। नाभिव्यज्यते। स्वगतत्वेन हि प्रतीतौ करुणे दुःखित्वं स्यात्। न च सा प्रतीतिर्युक्ता। सीतादेवरविभावत्वात् स्वकान्तास्मृत्यसंवेदनात्। देवतादौ साधारणीकरणायोग्यत्वात्। समुद्रलङ्घनादेरसाधारण्यात्। न च तद्वतो रामस्य स्मृतिः। अनुपलब्धत्वात्। न च शब्दानुमानादिभ्यः तत्प्रतीतौ लोकस्य सरसता प्रयुक्ता(सताऽपि युक्ता) प्रत्यक्षादिव। नायकगुगलकावभासे हि प्रत्युत लज्जाजुगुप्सास्पृहादिस्वोचितचित्तवृत्त्यन्तरोदयव्यग्रतयाकाश(यानेक)रसत्वमथापि स्यात्। तत्र प्रतीतिरनुभवस्मृत्यादिरूपा रसस्य युक्ता। उत्पत्तावपि तुल्यमेतद्दूषणम्। शक्तिरूपत्वेन पूर्वं स्थितस्य पश्चादभिव्यक्तौ विषयार्जनतारतम्यापत्तिः। स्वगतत्वपरगत्वादि च पूर्ववद्विकल्प्यम्।

तस्मात्काव्ये दोषाभावगुणालङ्कारमयत्वलक्षणेन नाट्ये चतुर्विधाभिनयरूपेण निविडनिजमोहसङ्कटकारिणा विभावादिसाधारणीकरणात्मनाऽभिधातो द्वितीयेनांशेन भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसोऽनुभवस्मृत्यादिविलक्षणेन रजस्तमोऽनुवेधवैचित्र्यबलाद्द्रुतिविस्तारविकासलक्षणेन सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयनिजसंविद्विश्रान्तिलक्षणेन परब्रह्मास्वादसविधेन भोगेन परं भुज्यत इति।

तत्र पूर्वपक्षोऽयं भट्टलोल्लटपक्षानभ्युपगमादेव नाभ्युपगत इति तद्दूषणमनुत्थानोपहतमेव। प्रतीत्यादिव्यतिरिक्तश्च संसारे को भोग इति न विद्मः। रसनेति चेत् सापि प्रतिपत्तिरेव। केवलमुपायवैलक्षण्यान्नामान्तरं प्रतिपद्यतां दर्शनानु-मितिश्रुत्युपमितिप्रतिभानादिनामान्तरवत्। निष्पादनाभिव्यक्तिद्वयान-भ्युपगमे च नित्यो वा असद्वा रस इति न तृतीया गतिरस्याम्। न चाप्रतीतं वस्त्वस्ति व्यवहारे योग्यम्।

अथोच्यते—प्रतीतिरिति तस्य भोगीकरणम्। तच्च भू (र) त्यादि-स्वरूपम्। तदस्तु। तथापित न तावन्मात्रम्। यावन्तो हि रसास्तावन्त एव रसनात्मानः प्रतीतयो भोगीकरणस्वभावाः। (सत्त्वादि) गुणानां चाङ्गाङ्गि-वैचित्र्यमनन्तं कल्प्यमिति कर्तृ (का त्रि) त्वेनेयत्ता—

("अभिधा भावना चान्या तद्भोगीकृतमेव च।
भावनाभाव्य एषोऽपि शब्दार्थालङ्कृती ततः॥)
अभिधाधामतां याते शृङ्गागदिगणो भ(हि)यत्।
(तद्भोगीकृतरूपेण व्याप्यते सिद्धमान्नरः॥") इति।

यत् "काव्येन भाव्यन्ते रसाः" इत्युच्यते तत्र विभावादिजनितचर्वणात्मकास्वादरूपप्रत्ययगोचरतापादनमेव यदि भावनं तदभ्युपगम्यत एव।

यत्तूक्तम्—

"संवेदनाख्य(ख्यया) व्यङ्ग्यपरसंवित्तिगोचरः।
आस्वादनात्माऽनुभवो रसः काव्यार्थ उच्यते॥" इति।

तत्र व्यज्यमानतया व्यङ्ग्यो लक्ष्यते। अनुभवेन च तद्विषय इति मन्तव्यम्।

नन्वेवं कथं रसतत्त्वमास्ताम्।

किं कुर्मः

आम्नयसिद्धे किमपूर्वमेत-
त्संविद्विकासेऽधिगतागमित्वम।
इत्थं स्वयंग्राह्यमहार्हहेतु-
द्वन्द्वेन किं दूषयिता न लोकः॥
ऊर्ध्वोर्ध्वमारुह्य यदर्थत्त्वं
धीः पश्यति श्रान्तिमवेदयन्ती।
फलं[1] तदाद्यैः परिकल्पितानां
विवेकसोपानपरम्पराणाम्॥
चित्रं निरालम्बनमेव मन्ये
प्रमेयसिद्धौ प्रथमावतारम्।
सन्मार्गलाभे सति सेतुबन्ध-
पुरप्रतिष्ठादि न विस्मयाय॥
तस्मात्सतामत्र न दूषितानि
मतानि तान्येव तु शोधितानि।

पूर्वपतिष्ठातिपयोजनासु।

मूलप्रतिष्ठाफलमामनन्ति॥

तर्ह्युच्यतां परिशुद्धतत्त्वम्।

उक्तमेव मुनिना न त्वपूर्वं किञ्चित्। तथाह्याह—"काव्यार्थान् भावयन्ति" इति (ना. शा. अ–७) तत्काव्यार्थो रसः।

यथा हि 'रात्रिमासत। 'तामग्नौ प्रादात्' इत्यादावर्थितादिलक्षितस्याधिकारिणः प्रतिपत्तिमात्रादतितीवप्ररोचितात्प्रथमप्रवृत्तादनन्तरमधिकैवोपात्त-काव्यतिरस्कारेणैवास्ते (से) प्रददानीत्यदिरूपा संक्रमणादिस्वभावा यथादर्शनं प्रतिभाभावनाविध्युद्योगादिभाषाभिर्व्यवहृता प्रतिपत्तिस्तथैव काव्यात्मकादपि शब्दादधिकारिणोऽधिकास्ति प्रतिपत्तिः।

अधिकारी चात्र विमलप्रतिभानशालिहृदयः। तस्य च "ग्रीवाभङ्गाभिरामम्।" इति (शाकु–अ. १) "उमापि नीलालक" इति (कुमा–३.६२) 'हरस्तु किञ्चित्' (कुमा–३.६७) इत्यादिवाक्येभ्यो वाक्यार्थप्रतिपत्तेरनन्तरं मानसी साक्षात्कारात्मिकाऽपहसिततत्तद्वाक्योपात्तकालादिविभागा तावत्प्रतीतिरुपजायते। तस्यां च यो मृगपोतकादिर्भाति तस्य विशेषरूपत्वाभावाद्भीत इति त्रासकस्यापारमार्थिकत्वाद्भयमेव परं देशकालाद्यनालिङ्गितम्। तत एव 'भीतोऽयं शत्रुर्वयस्यो मध्यस्थोवा' इत्यादिप्रत्येभ्यो दुःखसुखादिकृतहानादिबुध्यन्तरोदयनियमवत् तया विघ्नबहुलेभ्यो विलक्षणं निर्विघ्नप्रतीतिग्राह्यं साक्षादिव हृदये निविशमानं चक्षुपोरिव विपरिवर्तमानं भयानको रसः। तथाविधे हि भये नात्माऽत्यन्ततिस्कृतो न विशेषत उल्लिखितः।

एवं परोऽपि। तत एव न परिमितमेव साधारण्यम्। अपि तु विततम्। व्याप्तिग्रह इव धूमाग्न्योः। भयकम्पयोरेव वा तदत्र साक्षात्कारायमाणत्वे परिपोषिका नटादिसामग्री। यस्यां वस्तुतः सतां काव्यार्पितानां च देशकालप्रमात्रादीनां नियमहेतूनामन्योन्यप्रतिबन्धबलादत्यन्तमपसरणे स एव साधारणीभावः सुतरां पुष्यति। अत एव सर्वसामाजिकानामेकघनतयैव प्रतिपत्तेः (त्तिः) सुतरां रसपरिपोषाय। चमत्कारस्तज्जोऽपि कम्पपुलकोल्लुकसनादिर्विकारः। चमत्कारो यथा—

"अज्ज वि हरी चमक्कइ कहविण मंदरेण दलिआईं।

चंदकलादलसच्छीआईं लच्छीए अंगाईं॥"

तथा हि—स चातृप्तिव्यतिरेकेणाविच्छिन्नो भोगावेश इत्युच्यते। भुञ्जानस्याद्भुतभोगस्पन्दाविष्टस्य च मनःश्चमत्करणं चमत्कार इति। स च

साक्षात्कारस्वभावो मानसोऽध्यवसायो वा सङ्कल्पो वा स्मृतिर्वा तथात्वेन स्फुरत्य(न्त्र)स्तु। यदाह—

"रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुको भवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि॥" (शाकु ५—) इत्यादि।

(अत्र हि स्मरतीति या स्मृतिरुपदर्शिता सा न तार्किकप्रसिद्धा। पूर्वमेतस्यार्थस्याननुभूतत्वात्। अपि तु प्रतिभानापरपर्यायसाक्षात्कारस्भावेयमिति।) सर्वथा तावदेपास्ति प्रतीतिरास्वादात्मा यस्यां रतिरेव भाति। तत एव विशेषान्तरानुपहितत्वात्सा रसनीया सती न लौकिकी न मिथ्या नानिर्वाच्या न लौकिकतुल्या न तदारोपादिरूपा। तथैव चोपचयावस्थासु देशाद्यनियन्त्रणादनुकारोऽप्यस्तु। भावानुगामितया करणात् विषयसामग्र्यपि भवतु विज्ञानवादावलम्बनात्। सर्वथा रसनात्मकवीतविघ्नप्रतीतिग्राह्यो भाव एव रसः।

तत्र विघ्नापसारका विभावप्रभृतयः। तथा हि—लोके सकलविघ्नविनिर्मुक्ता संवित्तिरेव चमत्कारनिर्वेशरसनास्वादनभोगसमा-पत्तिलयविश्रान्त्यादिशब्दैरभिधीयते। विघ्नाश्चास्यां प्रतिपत्तवयोग्यता संभावना-विरहो नाम स्वगतत्वपरगतत्वनियमेन देशकालविशेषावेशो निजसुखादिविवशीभावः प्रतीत्युपायवैकल्यं स्पुटत्वाभावो अप्रधानता संशययोगश्च।

तथाहि—संवेद्यमसंभावयमानः संवेद्ये संविदं विनिवेशयितुमेव (यो) न शक्नोति का तत्र विश्रान्तिरिति प्रथमो विघ्नः। तदपसारणे हृदयसंवादो लोकसामान्यवस्तुविषयः। अलोकसामान्येषु तु चेष्टितेष्वखण्डितप्रसिद्धिजनितगाढारूढप्रत्ययप्रसरकारी प्रख्यातरामादिनामधेयपरिग्रहः। अत एव निस्सामान्योत्कर्षोपदेशव्युत्पत्तिप्रयोजने नाटकादौ प्रख्यातवस्तुविषयत्वादि नियमेन निरूपयिष्यते न तु प्रहसनादाविव। तच्च स्वावसर एव वक्ष्याम इत्यास्तां तावत्।

स्वैकगतानां च सुखदुःखसंविदामाम्वादे यथासंभवं तदपगमभीरुतया वा तत्परिरक्षाव्यग्रतया वा तत्सदृशार्जिजीषया वा तज्जिहासया वा तत्प्रचिख्यापयिषया वा तद्गोपनेच्छया वा प्रकारान्तरेण वा संवेदनान्तरसमुद्गम एव परमो विघ्नः।

परगतत्वनियमभाजामपि सुखदुःखानां संवेदने नियमेन स्वात्मनि सुखदुःखमोह-माध्यस्थादिसंविदन्तरोद्गमनसंभावनादवश्यंभावी विघ्नः। तद-

पाकरणे 'कार्यो नातिप्रसङ्गोऽत्र' (ना. शा. ५-१५८) इत्यादिना (पूर्वरङ्ग विधिं प्रतीति) पूर्वरङ्गानिगूहनेन ("नटी विदूषको वापि' इति लक्षित) प्रस्तावनावलोकनेन च यो नटरूपताधिगमस्तत्पुरस्सरः प्रतिशीर्ष-कादिना तत्प्रच्छादनप्रकारोऽभ्युपायः, अलौकिकभाषादिभेदलास्याङ्गपीठ-मण्डपगतकक्ष्यादिपरिग्रहनाट्यधर्मिसहितः। तस्मिन् हि 'तस्यैवात्रैवैतस्यैव च सुखं वा' इति न भवति। प्रतीतिस्वरूपस्य निह्नवात्। रूपान्तरस्य चारोपितस्य प्रतिभासंविद्विश्रान्तिवैकल्येन स्वरूपे विश्रान्त्यभावात्। सत्ये तदीयरूप-निह्नवमात्र एव पर्यवसानात्।

तथा हि—आसीनपाठ्यपुष्पगन्धिकादि लोके न दृष्टम। न च तन्न किञ्चित्। कथञ्चित्संभाव्यत्वात् इति स एष सर्वो मुनिना साधारणी-भावसिद्ध्या रसचर्वणोपयोगित्वेन परिकरबन्धः समाश्रितः इति तत्रैव स्फुटीभविष्यतीति तदिह तावन्नोद्यमनीयम्। ततः स एष स्वपरनियतताविघ्ना-पसरणप्रकारो व्याख्यातः।

निजसुखादिविवशीभूतश्च कथं वस्त्वन्तरे संविदं विश्रामयेदिति तत्प्रयूहव्यपोहनाय प्रतिपदार्थनिष्ठैः साधारण्यमहिम्ना सकलभोग्यवत्सहिष्णुभिः शब्दादिविषयमयीभि(मयै)रातोद्यगानविचित्रमण्डपपदविदग्धगणिकादिभिरुपरञ्जनं समाश्रितम्। येनाहृदयोऽपि हृदयवैमल्यप्राप्त्या सहृदयीक्रियते। उक्तं हि "दृश्यं श्रव्यं च" (ना. शा. १-११) इति।

किञ्च प्रतीत्युपायानासभावे कथं प्रतीतिः। स्फु(अस्फु)टप्रतीति-कारिशब्दलिङ्गसम्भवेऽपि न प्रतीतिर्विश्राम्यति। स्फुटप्रतीतिरूपप्रत्यक्षोचित-प्रत्ययसाकाङ्क्षत्वात्।

यथाऽऽहुः 'सर्वा चेयं प्रमितिः प्रत्यक्षपरा' (न्यायसू. भा. १-३) इति। स्वसाक्षात्कृते आगमानुमानशतैरप्यनन्यथाभावस्य स्वसंवेदनात्। अलातचक्रादौ साक्षात्कारान्तरेणैव बलवता तदवधारणादिति लौकिकस्तावदयं क्रमः। तस्मात्तदुभयविघ्नविघातेऽभिनया लोकधर्मिवृत्तिप्रवृत्त्युपस्कृताः समभिषिच्यन्ते। अभिनयनं हि सशब्दलिङ्गव्यापारविसदृशमेव प्रत्यक्षव्यापारकल्पमिति निश्चेप्यामः।

अप्रधाने च वस्तुनि कस्य संविद्विश्राम्यति। तस्यैव प्रत्ययस्य प्रधानान्तरं प्रत्यनुभावतः स्वात्मन्यविश्रान्तत्वात्। अतोऽप्रधानत्वं जडे विभावानुभाववर्गे व्यभिचारिनिचये च संविदात्मकेऽपि नियमेनान्यसुखसंप्रेक्षिणि संभवतीति तदतिरिक्तः स्थाय्येव तथा चर्वणापात्रम्।

तत्र पुरुषार्थनिष्ठाः काश्चित्संविद इति (एव) प्रधानम्। तद्यथा—रतिः कामः तदनुषङ्गिधर्मार्थनिष्ठा। क्रोधस्तत्प्रधानेष्वर्थनिष्ठः। कामधर्मपर्यवसितोऽप्युत्साहः समस्तधर्मादिपर्यवसितः। तत्त्वज्ञानजनितनिर्वेदप्रायो विभावो मोक्षोपाय इति तावदेषां प्राधान्यम्। यद्यपि चेषामप्यन्योन्यं गुणभावोऽअस्ति तथापि तत्तत्प्रधाने रूपके तत्तत्प्रधानं भवतीति रूपकभेदपर्यायेण सर्वेषां प्रधान्यमेषं ल(व)क्ष्यते। अदूरभागाभिनिविष्टदृशस्त्वेकस्मिन्नपि रूपके पृथक्प्राधान्यम्।

तत्र सर्वेऽमी सुखप्रधानाः। स्वसंविच्चर्वणरूपस्यैकघनस्य प्रकाशस्यानन्दसारत्वात्। तथा हि—एकघनशोकसंविच्चर्वणेऽपि लोके स्त्रीलोकस्य हृदयविश्रान्तिरन्तरायशून्यविश्रान्तिशरीरत्वात् (सुखस्य)। अविश्रान्तिरूपतैव दुःखम्। तत एव कापिलैर्दुःखस्य चाञ्चत्यमेव प्राणत्वेनोक्तं रजोवृत्तितां वदद्भिरित्यानन्दरूपता सर्वरसानाम्।

किन्तूपरञ्जकविषयवशात्तेषामपि कटु किं नास्ति। स्पर्शो वीरस्य। स हि क्लेशसहिष्णुतादिप्राण एव। एवं रत्यादीनां प्राधान्यम्। हासादीनां तु सातिशयं सकललोकसुलभविभावतयोपरञ्जकत्वमिति (न)प्राधान्यम्। अत एवानुत्तमप्रकृतिपु बाहुल्येन हासादयो भवन्ति। पामरप्रायः सर्वोऽपि हसति शोचति बिभेति परनिन्दामाद्रियते। अल्सुखभापितत्वेन च सर्वत्र विस्मयते। रत्याद्यङ्गतया तु पुमर्थोपयोगित्वमपि स्यादेषाम्। एतद्गुणप्रधानभावकृत एव च दशरूपकादिभेद इति वक्ष्यामः।

स्थायित्वं चैतावतामेव। जात एव हि जन्तुरियतीभिः संविद्भिः परीतो भवति। तथा हि—

"दुःखसंश्लेषविद्वेषी सुखास्वादनसादरः।"

इति न्यायेन सर्वो रिरंसया व्याप्तः स्वात्मन्युत्कर्षमानितया परमुपहसन्नभीष्टवियोगसंतप्तस्तद्धेतुषु कोपपरवशोऽशक्तौ च ततो भीरुः किञ्चिदार्जिजीषुरप्यनुचितवस्तुविषयवैमुख्यात्मकतयाक्रान्तः किञ्चिदनभीष्टतयाऽभिमन्यमानस्तत्तत्स्वकर्त्तव्यदर्शनसमुदितविस्मयः किञ्चिच्च जिहासुरेव जायते। न ह्येतच्चित्तवृत्तिवासनाशून्यः प्राणी भवति। केवलं कस्यचित्काचिदधिका चित्तवृत्तिः काचिदूना। कस्यचिदुचितविषयनियन्त्रिता कस्यचिदन्यथा। तत्काचिदेव पुमर्थोपयोगिनीत्युपदेश्या। तद्विभाव(ग)कृतश्चचोत्तमप्रकृत्यादिव्यवहारः।

ये पुनरमी ग्लानिशङ्काप्रभृतयश्चित्तवृत्तिविशेषास्ते समुचितविभावा-

भावाज्जन्ममध्येऽपि न भवन्त्येव। तथा हि—रसायनमुपयुक्तवतो मुनेर्ग्लान्यालस्यश्रमप्रभृतयो नोत्तिष्ठन्ति। यस्यापि भवन्ति विभावबलात्तस्यापि हेतुप्रक्षये क्षीयमाणाः संस्कारशेषतां तावत् नावश्यमनुबध्नन्ति। उत्साहादयस्तु संपादितस्वकर्तव्यतया प्रलीनकल्पा अपि संस्कारशेषतां नातिवर्तन्ते। कर्तव्यान्तरविषयस्योत्साहादेरखण्डनात्।

यथाह पतञ्जलिः—"न हि चैत्र एकस्यां स्त्रियां रक्त इत्यन्यासु विरक्तः।" (पातञ्जल. व्यास. भा. २-८) इत्यादि।

तस्मात्स्थायिरूपचित्तवृत्तिसूत्रस्यूता एवामी व्यभिचारिणः स्वात्मानमुदयास्तमयवैचित्र्यशतसहस्रधर्माणं प्रतिलभमाना रक्तनीलादिसूत्रस्यूतविरलभावो(गो)पलम्भनसम्भावितभङ्गीसहस्रगर्भस्फटिककाचभ्र(भ्रा)मकपद्मरागमरकतमहानीलादिमयगोलकवत्तस्मिन् सूत्रे स्वसंस्कारवैचित्र्यमनिवेशयन्तोऽपि तत्सूत्रकृतमुपकारसन्दर्भं विभ्रतः स्वयं च विचित्रार्थस्थायिसूत्रं च विचित्रयन्तोऽन्तरान्तरा शुद्धमपि स्थायिसूत्रं प्रतिभासावकाशमुपनयन्तोऽपि पूर्वापरव्यभिचारिरत्नच्छायाशबलिमानमवश्यमानयन्तः प्रतिभासन्त इति व्यभिचारिण उच्यन्ते।

तथा हि—ग्लानोऽयमित्युक्ते कुत इति हेतुप्रश्नेन स्थायी तस्य सूच्यते। न तु राम उत्साहशक्तिमानित्यव हेतुप्रश्नमाहुः। अत एव विभावास्तत्रोद्बोधकाः सन्तः स्वरूपोपरञ्जकत्वं विदधाना रत्युत्साहादेरुचितानुचितत्वमात्रमावहन्ति। न तु तदभावे सर्वथैव ते निरुपाख्याः। वासनात्मना सर्वजन्तूनां तन्मयत्वेनोक्तत्वात्। व्यभिचारिणां तु स्वविभावाभावे नामापि नास्तीति। वितनिष्यते चैतद्यथायोगं व्याख्यावसरे। एवमप्रधानत्वनिरासः स्थायिनिरूपणायां "स्थायीभावान् रसत्त्वम् (ना. शा. अ-६) इत्यनया सामान्यलक्षणशेषभूतया विशेषलक्षणनिष्ठया च कृतः।

तत्रानुभावानां विभावानां व्यभिचारिणां च पृथक्स्थायिनि नियमो नास्ति। बाष्पादेरानन्दाक्षिरोगादिजत्वदर्शनात्। व्याघ्रादेश्च क्रोधभयादिहेतुत्वात्। 'भ्र(श्र)मचितान्तेरुत्साहभयाद्यनेकहसहचरत्वाबलोकन'..........व्यभिचारिणी। तथा हि—बन्धुविनाशो यत्र विभावः परिदेविताश्रुपातादिस्त्वनुभावः चिन्ता दैन्यादिर्व्यभिचारी सोऽवश्यं शोक एवे(व वे)त्येवं संशयोदये शङ्कात्मकविघ्नशमनाय संयोग उपात्तः।

तत्र लोकव्यवहारे कार्यकारणसहचारात्मकलिङ्गदर्शने स्थाय्यात्मपरचित्तवृत्त्यनुमानाभ्यासपाटवादधुना तैरेवोद्यानकटाक्षवीक्षा दिभिर्लौकिकीं कारणत्वादिभुवमतिक्रान्तैर्विभावनानुभावनासमुपरञ्जकत्वमात्रप्राणैः, अत

एवालौकिकविभावादिव्यपदेशभाग्भिः। प्राच्यकारणादिरूपसंस्कारोपजीवनख्यापनाय विभावादिनामधेयव्यपदेश्यैर्भावाध्याये‍ऽपि वक्ष्यमाणस्वरूपभेदैर्गुणप्रधानतापर्यायेण सामाजिकधियि सम्यग्योगं सम्बन्धमैकाग्र्यं वाऽऽसादितवद्भिरलौकिकनिर्विघ्नसंवेदनात्मकचर्वणागोचरतां नीतोऽर्थश्चर्व्यमाणतैकसारो न तु सिद्धस्वभावः तात्कालिक एव न तु चर्वणातिरिक्तकालावलम्बी स्यायिबिल(यिल)क्षण एव रसः। ननु (न तु)यथा शङ्कुकादिभिरभ्यधीयत, "स्थाय्येव विभावादिप्रत्याय्यो रस्यमानत्वाद्रस उच्यते।" इति। एवं हि लौकिकोऽपि किं न रसः असतोऽपि हि यत्र रसनीयता स्यात्तत्र वस्तुसतः कथं न भविष्यति। तेन स्थायिप्रतीतिरनुमितिरूपा प्राच्या(प्या)। न रसः अत एव सूत्रे स्थायिग्रहणं न कृतम्। तत्प्रत्युत शल्यभूतं स्यात्। केवलमौचित्यादेवमुच्यते स्थायी रसीभूत इति। औचित्यं तु तत्स्थायिगतत्वेन कारणादितया प्रसिद्धानामधुना चर्वणोपयोगितया विभावादित्वाबलम्बनात्।

तथा(दा)हि लौकिकचित्तवृत्त्यनुमाने का रसता। तेनालौकिकचमत्कारात्मा रसास्वादः स्मृत्यनुमानलौकिक संवेदनविलक्षण एव।

तथाहि—लौकिकेनानुमानेन संस्कृतः प्रमदादिना (दि न)ताटस्थ्येन प्रतिपद्यते। अपि तु हृदयसंवादात्मकसहृदयत्वबलात्पूर्णीभविष्यद्रसास्वादाङ्कुरीभावेनानुमानस्मृत्यादिसोपानमारुह्यैव तन्मयीभावोचितचर्वणाप्राणतया। न च सा चर्वणा प्रङ्मानान्तरात् येनाधुना स्मृतिः स्यात्। न चात्र लौकिकप्रत्यक्षादिप्रमाणव्यापारः। किन्त्वलौकिकविभावादिसंयोगबलोपनतैवेयं चर्वणा। सा च प्रत्यक्षानुमानागमोपमानादिलौकिकप्रमाणजनितरत्याद्यवबोधतः तथा योगिप्रत्यक्षजनिततटस्थपरसंवित्तिज्ञानात्सकलवैषयिकोपरागशून्यशुद्धपरयोगिगतस्वात्मानन्दैकघनानुभवाच्च विशिष्यते। 'एतेषां यथायोगमर्जनादिविघ्नान्तरोदयात्ताटस्थ्येऽम्फुटत्वविषयावेश वैवश्यकृतसौन्दर्यविरहात्। अत्र तु स्वात्मैकगतत्वनियमासंभवात् (न विषयावेशवैवश्यम्) स्वानुप्रवेशात् परगतत्वनियमाभावात् (न ताटस्थ्याम्फुटत्वं)तद्वि-भावादिसाधारण्यवशसंप्रबुद्धोचित्तनिजरत्यादिवासनावेशवशाच्च न विघ्नान्तरादीनां सम्भव इत्यवोचाम बहुशः। अत एव विभावादयो न निष्पत्तिहेतवो रसस्य। तद्‌बोधापगमेऽपि रससंभवप्रसङ्गात्। नापि ज्ञप्तिहेतवः येन प्रमाणमध्ये पतेयुः। सिद्धस्य कस्यचित्प्रमेयभूतस्य रसस्याभावात्। किं तर्ह्येतद्धि विभावादय इति। अलौकि एवायं चर्वणापयोगी विभावादिव्यवहारः। कान्यत्रेत्थं दृष्टमिति चेद्भूषणमेतदस्माकमलौकिकत्वसिद्धौ। पानकरसास्वादोऽपि किं गुडमरीचादिषु दृष्ट इति समानमेतत्।

नन्वेवं रसोऽप्रमेयः स्यादेवम्। युक्तं भवितुमर्हति। रस्यतैकप्राणो ह्यसौ न प्रमेयादिस्वभावः। तर्हि सूत्रे निष्पत्तिरिति कथम्। नेयं रसस्य। अपि तु तद्विषयरसनायाः। तन्निष्पत्त्या तु यदि तदेदायत्तजीवितस्य रसस्य निष्पत्तिरुच्यते न कश्चिदत्र दोषः। सा च रसना न प्रामणव्यापारो न कारकव्यापारः। स्वयं तु नाप्रामाणिकः। स्वसंवेदनसिद्धत्वात्। रसना च बोधरूपैव। किन्तु बोधान्तरेभ्यो लौकिकेभ्यो विलक्षणैव। उपायानां विभावादीनां लौकिकवैलक्षण्यात्। तेन विभावादिसंयोगाद्रसना यतो निष्पद्यतेऽतस्थथाविधरसनागोचरो लोकोत्तरोऽर्थो रस इति तात्पर्य सूत्रस्य।

अयमत्र संक्षेपः। मुकुटप्रतिशीर्षकादिना तावन्नटवुद्धिराच्छाद्यते। गाढ-प्राक्तनसंवित्संस्काराच्च काव्यवलानीयमानापि न तत्र रामधीर्विश्राम्यति। अत एवोभयदेशकालत्यागः। रोमाञ्चादयश्च भूयसा रतिप्रतीतिकारितया दृष्टास्तत्रापि लौकिका (त्रावलोकिता) देशकालानियमेन तत्र रतिं गमयन्ति। यस्यां स्वात्माऽपि तद्वासनावत्त्वादनुप्रविष्टः। अत एव न तटस्थतया रत्यवगमः। न च नियतकारणतया। येनार्जनाभिषङ्गादिसम्भावना। न च नियतपरात्मैकगततया। येन दुःखद्वेषाद्युदयः। तेन साधारणीभूता सन्तावृत्तेरेकस्या एव वा संविदो गोचरभूता रतिः शृङ्गारः। साधारणी (भावनाच) विभावादिभिरिति। तत्र विभावप्रधान्यस्य धामामिया (प्राधान्येन साधारणीभावो यथा—)

"केलीकन्दलितस्य विभ्रममधो (:) धुर्य वपुस्ते दृशोः
भङ्गी भङ्गुरकामकार्मुकमिदं भ्रूर्नर्मकर्मक्रमः।
आपातो (घ्रातो) ऽपि विकारकारणमहो वक्त्राम्बुजन्माऽऽसवः
सत्यं सुन्दरि वेध सस्त्रिजगतीसारः त्वमेका कृतिः॥"

अत्र च विभावकृतं तत्सौन्दर्यं प्रधान्येन भाति। तदनुगतत्वेन केलीविभ्रम-भङ्गुभ्रनर्मवचोमहिम्ना चानुभाववर्गो भङ्गीक्रमविकारादिशब्दवलाच्च व्यभिचा-रिवर्गः प्रतिभतीत्यत एव नाम्फुटत्वाशङ्काऽत्र रत्यास्वादमये शृङ्गारे विधेया।

अनुभावप्राधान्यं यथा शुद्धसारस्वतप्रवाहपवित्रसकलवाङ्मयमहार्णव-पूर्णभावसंपादनात् द्विजराजस्येन्दुराजस्य—

"यद्विश्रम्य विलोकितेषु बहुशो निस्थेमनी लोचने
यद्गात्राणि दरिद्रति प्रतिदिनं लूनाब्जिनीनालवत्।
दूर्बाकाण्डविडम्बकश्च निविडो यत्पाण्डिमा गण्डयोः
कृष्णे यूनि सयौवनासु वनितास्वेषैव वेषस्थितिः।" ।इति।

अत्र विश्रम्येति बहुश इति प्रतिदिनमिति च पदसमर्पितो व्यभिचारिगणः कृष्ण इत्यादि पदार्पितश्च विभावो गुणत्वेन प्रतिभासते। विश्रान्तिलक्षणस्तम्भविलोक-

वैचित्र्यगात्रतानवतारतम्यपुलकवैवर्ण्यप्रभृतिस्त्वनुभावसञ्चयः प्रधानतया। व्यभिचारिणां तु प्राधान्यं तद्विभावानुभावप्राधान्यकृतम्। तत्राद्यम्। यथा महाकवेः कालिदासस्य (कलशकस्य)—

''आत्तमात्तमधिकान्तमी(मु)क्षितुं कातरा शफरशङ्किनी जहौ।
अञ्जलौ जलमधीरलोचना लोचनप्रतिशरीरलाञ्छितम्॥''

इत्यत्र सुकुमारप्रमदाजनभूषणभूतस्य व्यभिचारिवर्गस्य वितर्कत्रासशङ्कादेः प्राधान्यं तद्विभावानां प्राधान्यादि (त) सौन्दर्यातिशयकृतम्। आत्तमित्याद्यर्पितानुभाववर्गस्तु तदनुयायी।

तत्रालौकिकोऽयमर्थो न दृष्टान्तमन्तरेण हृदयङ्गमो भवेदित्याशयेनाह—को दृष्टान्त इति। बहूनां संयोगादपूर्वो रस उत्पद्यमानः क्व दृष्ट इत्यर्थः।

एवं द्वयप्राधान्ये चोदाहार्यम्। किन्तु समप्रधान्य एव रसाम्वादस्योत्कर्षः। तच्च प्रबन्ध एव भवति। वस्तुतस्तु दशरूपक एव। यदाह वामनः—''सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः। तद्विचित्रं चित्रपटवद्विशेषसाकल्यात्।'' (काव्यालं. सू. १.३.३०-३१) इति तद्रूपरसचर्वणया तु प्रबन्धे भाषावेषप्रवृत्त्यादिकल्पनात्। तदुपजीवनेन मुक्तके। तथा च तत्र सहृदयाः पूर्वापरमुचितं परिकल्प्य ईदृगत्र वक्ताऽस्मिन्नवसरे इत्यादि बहुतरं पीठबन्धरूपं विदधते। तेन ये काव्याभ्यासप्राक्तनपुण्यादिहेतुबलादिति (भिः) सहृयास्तेषां परिमितविभावाद्युन्मीलनेऽपि परिस्फुट एव साक्षात्कारकल्पः काव्यार्थ स्फुरति। अत एव तेषां काव्यमेव प्रीतिव्युत्पत्तिकृदनपेक्षितनाट्यमपि। तेषामपि तु नाट्यं ''निपतिताः स्फुरिताः शशिरश्मयः'' इति न्यायेन सुतरां निर्मलीकरणम्। अहृदयानां च तदेव नैर्मल्याधायि। यत्र पति (प्रती) ता गीतवाद्यगणकादयो न व्यसनितायै पर्यवस्यन्ति नाट्योपलक्षणात्। तत्र च नटो ध्यायिनामिवेदंध्यानपदम्। न हि तत्रायमेव सिन्दूरादिमयो वासुदेवः स्मरणीय इति प्रतिपत्तिः। अपि तु तदुपायद्वारेणातिस्फुटीभृतसङ्कल्पगोचारो नियतदेशकालाद्यस्पृष्टो 'अत इदं फलम्' इति विधिस्थानीयोऽर्थो व्युत्पत्तिं वितरति। युते। यव दृश्या(दृश्येऽ)ननियमादौ चित्तवृत्त्यादो वा न बाधकोदयः सभ्यग्ज्ञानभूतं ह्येवेदं पूर्णम्। तेन राम इत्येव प्रतीतिर्न त्वयं (यं न) रामोऽन्योऽयमिति। स्फुटीकरिष्यते चैतदग्रतः।

कोदृष्टान्तः। अत्राह—यथा हि नानाव्यञ्जनौषधिद्रव्यसंयोगद्रसनिष्पत्तिः तथा नानाभावोपगमाद्रसनिष्पत्तिः। यथा हि—गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यञ्जनैरौषधिभिश्च षाडवादयो रसा निर्वर्त्यन्ते तथा

नानाभावोपगता अपि स्थानियो भावा रसत्वमाप्नुवन्तीति। अत्राह—रस इति कः पदार्थः। उच्यते—आस्वाद्यत्वात्। कथमास्वाद्यते रसः। यथा हि नानाव्यञ्जनसंस्कृतमन्नं भुञ्जाना रसानास्वादयन्ति समुमनसः पुरुषा हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति तथा नानाभावाभिनयव्यञ्जितान् वागङ्गसत्त्वोपेतान् स्थायिभावा-नास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति। तस्मान्नाट्यरसा इत्यभिव्याख्याताः। अत्रानुवंश्यौ श्लोकौ भवतः—

अत्र प्रश्ने भाष्येण प्रतिवचनमाह—यथेत्यादिना आप्नुवन्तीत्यन्तेन। व्यञ्जनमुपसेचनद्रव्यम्। तच्च नानान्नप्रम (नानातिक्तम) धुरचुक्रादिभेदादधिकाञ्जिकादि। ओषधयश्चिञ्चागोधूमदलहरिद्रादयः। द्रव्यं गुडादि। एषां पाकक्रमेण सम्यग्योजनारुपात्कुशलसम्पाद्यात्संयोगात्। षाडवादय इति लोकप्रसिद्धेभ्यः परस्परविविक्तेभ्यो मधुरतिक्ताम्ललवणकटुकषायेभ्यो मिश्रेभ्यश्च विलक्षणः पाडवशब्दवाच्यः। तत्प्रधाना बहुतरा रसनयोग्याः क्रियन्ते। तथैव नानाभूतैर्विभावादिभिरुपसमीपं प्रत्यक्षकल्पतां गता लोकापेक्षया ये स्थायिनो भावास्ते रस्यमानतैकजीविनं रसत्वं तत्र प्रतिपद्यन्ते।

एतदुक्तं भवति—पाकरूपयां सम्यग्योजनया तावदलौकिको रसो जायते। तत्र च प्रधानत्वेन जलस्य रसाभिव्यञ्जकत्वमिति व्यञ्जनं विभावस्थानीयम्। चिञ्चाहरिद्राद्यनुभावप्रायम्। द्रव्याणि तु गुडा (दीनि) तदीयचुक्रादिरसविलक्षणमधुरादियोगाद्व्यभिचारिकल्पम्। स्वात्मनि तदुपजीवनेन च परत्र च स्वरसङ्क्रमणया वैचित्र्याधायकत्वात्। अत्र तु स्थायिकल्पस्तन्मिश्रणासमयभावी रसविशेषो विभावकल्पव्यञ्जनजनितो मन्तव्यः। स हि लौकिकः अयन्तु कुशलैकनिर्वर्त्यस्तद्विदां रसनीयो भवति। तेनाद (दनीय) स्येत्यध्याहारो न युक्तः। यथा हि दार्ष्टान्तिकसूत्रे स्थायिग्रहणं शल्यकल्पमिति त्रयमेवोपात्तं तथा दृष्टान्तेऽपि त्रयस्यैवोपादानं युक्तम्।

एवं सूत्रं व्याख्याय लक्षणपदं परीक्षितुमाक्षिपति—रस इति क इत्यादिना। मधुरादौ पारदे विषये सारे जलसंस्कारेऽभिनिवेशे काव्ये देहधातोर्नि (तौ नि) र्यासे वाऽयं प्रसिद्धो न त्वन्यत्र। तेन रस इति पदस्य शृङ्गारादिषु प्रवर्तितस्य कोऽर्थः। किं प्रवृत्तिनिमित्तं कथ्यते स्वाभिधेयनियमाय शब्देन यदि वा तत्प्रयोक्तृप्रतिपत्तृभिरिति। अर्थः प्रवृत्तिनिमित्तम्। अत्रोत्तरम्। आस्वाद्यत्वात्।

प्रवृत्तिहेतोर्यतः प्रश्नस्तेनोत्तरं हेतुविभक्त्यैव दत्तम्। तेन क्रिया प्रवृत्तिनिमित्तमस्येत्युक्तं भवति।

यस्तु भङ्क्त्वा व्याचष्टे—रस इति योऽयं(कोऽयं)शब्दः। तत्रोत्तरम्। पदार्थः। उच्यत इति। तस्यानेनेत्यध्याहारं विना प्रकृतपदार्थवाचकोऽयं शब्द इति [न] तात्पर्यकल्पनं बिना नातीव सङ्गतमुत्तरम्। प्रश्नमन्तरेण चास्वाद्यत्वादित्यल्पपदप्रायमित्यास्तामेतत्।

अथ प्रवृत्तिनिमित्त व्याक्षिपति कथमास्वाद्यत इति। आस्वादनं हि रसनेन्द्रियजज्ञानं प्रसिद्धमिति भावः। अत्रोपचरितक्रियाश्रयेणोत्तरमाह यथा नानेत्यादिना। यथातथाशब्दाभ्यां सादृश्यमत्रोपचारे निमित्तमिति दर्शयति। तत्र भोग्यस्य भोक्तुः फलस्य च साम्यं दर्शयति। यथा हि व्यञ्जनसंस्कृतेऽन्ने आस्वाद्यता। एकाग्रमनसि च भोक्तर्यास्वादयितृता। अन्यचित्तस्य भुञ्जानस्याप्यास्वादाभिमानाभावात्। प्रहर्षाप्यायजीवनपुष्टिबलारोग्याणां चास्वादफलता। तथाभिनयव्यञ्जिते (तेऽपि) चिन्त्या। स्थायिशब्दव्यपदेश्ये रसे आस्वाद्यता। एकाग्रे च सामाजिके तन्मयीभूत आस्वादयितृता। हर्षप्रधानानां धर्मादि व्युत्पत्तिवैदग्ध्यादीनामास्वादफलत्वमिति कर्मकर्तृफलसादृश्याद्विभावादिजः प्रतीतिविशेषो रसनाक्रियेति व्यपदिष्ट इति तात्पर्यम्। येन सुमनसो भुञ्जाना हर्षादींश्च यान्ति तेन रसानास्वादयन्तीत्यनेन शब्देन। अभितः सर्वत्र। विशेषेण अन्यभोक्तृविलक्षणतया। आ समन्तात्। ख्याताः प्रसिद्धाः। यथा चैते तथा प्रेक्षका अपि। तेन तेऽपि स्थायिनः आस्वादयन्तीति आभिमुख्येन सादृश्ये व्याख्याता अस्माभिर्व्यवहृताः। अत्रोपसंहार तस्मान्नाट्यरसाः।

अन्येत्यादिशब्देन शोकादीनामत्र सङ्ग्रहः। स च न युक्तः। सामाजिकानां हि हर्षैकफलं नाट्यं न शोकादिकल्पम्। तथात्वे निमित्ताभावात्तत्परिहार-प्रसङ्गाच्चेति मन्यमाना हर्षांश्चाधिगच्छन्तीति पठन्ति।

यथा बहुद्रव्ययुतै र्व्यञ्जनैर्बहुभिर्युतम्।
आस्वादयन्ति भुञ्जाना भक्तं भक्तविदो जनाः॥ ३२॥
भावाभिनयसंबद्धान्स्थायिभावांस्तथा बुधाः।
आस्वादयन्ति मनसा तस्मान्नाट्यरसाः स्मृताः॥ ३३॥

एवं ग्रन्थयोजनायां स्पष्टायां यत् कैश्चिदत्र चोदितं दृष्टान्ते आत्मा रसना मनश्चेतित्रयम्। प्रकृते तु रसनैवेति। परिहृतं चात्मन एवात्र स्थानान्तरसङ्क्रान्तस्य मनःस्थानीयता। मनसश्च रसनास्थानीयतेति। तत्सर्वं वृथा नाट्यमात्रम्। उपचारबीजस्य सादृश्यस्यात्र प्राधान्येन प्रतिपिपादयिषितत्वादित्यास्ताम्।

एवं रसत्वं केन तेषामिति यत्प्रश्नितं तत्प्रतिसमाहितम्। अत्रेति भाष्ये अनुवंशे भवौ शिष्याचार्यपरम्परासु वर्तमानौ श्लोकाख्यौ वृत्तविशेषौ सूत्रार्थ-

संक्षेपप्रकटीकरणेन कारिकाशब्दवाच्यौ भवतः। तौ पठति—यथेत्यादि। मधुरादिभेदाद्बहूनि द्रव्याणि गुडादीनि। बहुभिरिति, दधिकाञ्जिकादिभिः। अनेन विभावभेदं रसभेदे हेतुत्वेन सूचयति। भुञ्जाना आस्वादयन्तीति। रसनाव्यापाराद्भोजनादधिको यो मानसो व्यापारः स एवास्वादनमिति दर्शयति।

एतदुक्तं भवति—न रसनाव्यापार आस्वादनम्। अपि तु मानस एव। स चात्राविकलोऽस्ति। केवलं लोके रसनाव्यापारान्तरभावी स प्रसिद्ध इत्युपचार इह दर्शित इति॥ शुद्धतत्स्वरूपज्ञानस्वभावा अत्र भावा विभावव्यभिचारिणः। अभिनया अनुभावा एव। इयं (दं) पृथग्वचनं प्रधान्यात्। तैर्यैः सम्यग्बद्धा हृदयसंवादक्रमेण तन्मयीभावापन्नप्रमातृभूम्यभेदमुपसम्प्राप्ता। अचिन्त्याः स्थायिन आ समन्तात्साधारणीभावेन निर्विघ्नप्रतिपत्तिवशात्। मनमा, इन्द्रियान्तर-विघ्नसंभावनाशून्येन स्वादयन्ति स्वपरविवेकशून्यस्वादचमत्कारपरवशतया लौकिकात्प्रत्ययादुपार्जनादिविघ्नबहुलाद्योगिप्रत्ययाच्च विषयास्वाद-शून्यतापरुषाद्विलक्षणाकारसुखदःखादिविचित्रवासनानुवेधोपनतहृद्यतातिशय-संविच्चर्वर्णात्मना भुज्यते। बुधा इति पूर्वो (र्णो) पयोगो लौकिकानां प्रत्यक्षादीनामत्र दर्शितः।

एतदुपसंहरति—तस्मादिति। नाट्यात्समुदायरूपाद्रसाः। यदि वा नाट्यमेव रसः। रससमुदायो हि नाट्यम्। (न) नाट्य एव च रसाः। काव्येऽपि नाट्यायमान एव रसः। काव्यार्थविषये हि प्रत्यक्षकल्पसंवेदनोदये रसोदय इत्युपाध्यायाः।

यदाहुः काव्यकौतुके—

"प्रयोगत्वमनापन्ने काव्ये नास्वादसम्भवः।" इति।

"वर्णनोत्कलिता भोगप्रौढोक्त्या सम्यगर्पिताः।
उद्यानकान्ताचन्द्राद्या भावाः प्रत्यक्षवत्स्फुटाः॥" इति॥

अन्ये तु काव्येऽपि गुणालङ्कारसौन्दर्यातिशयकृतं रसचर्वणमाहुः। वयं तु ब्रूमः—काव्यं तावन्मुख्यतो दशरूपकात्मकमेव। तत्र ह्युचितैर्भाषावृत्तिका-कुनेपथ्यप्रभृतिभिः पूर्यते रसवत्ता। सर्गबन्धादौ हि नायिकाया पि संस्कृतैवोक्तिरित्यादि बहुतरमनुचितं केवलं शक्तिरहितत्वाद्व्यावर्ण्यते। तावतीव हृद्यमिति न्यायेनानौचित्यं न प्रतिहारि (प्रतिजहाति)। तत एवोच्यते 'सन्दर्भेषु दशरूपकम्' (वामन. का.) इति। तेन तदंश(दङ्ग)सन्ध्या-दिसङ्घटनमुद्धृत्य सर्गबन्धादि यावन्मुक्तं (वतकम्)। यत्तु दशरूपकं तस्य योऽर्थस्तदेव नाट्यम्। यद्वक्ष्यते 'नाट्यस्यैषा तनूः' (ना. शा. १४.२) इति। तस्य

हृदयसंवादतारतम्यापेक्षया श्रोतृप्रतिपत्तृस्फुरणं स्फुटास्फुटत्वेनातिविचित्रम्। तत्र ये स्वभावतो निर्मलमुकुरहृदयास्त एव संसारोचितक्रोधमोहाभिलाषपरवशमनसो न भवन्ति। तेषां तथाविधदशरूपकाकर्णनसमये साधारणरसनात्मकचर्वणग्रह्यो रससञ्चयो नाट्यलक्षणः स्फुट एव। ये त्वतथाभूतास्तेषां प्रत्यक्षोचिततथा-विधचर्वणालाभाय नटादिप्रक्रिया। स्वगतक्रोधशोकादिसङ्कट-हृदयग्रन्थि-भञ्जनाय गीतादिप्रक्रिया च मुनिना विरचिता। सर्वानुग्राहकं हि शास्त्रमिति न्यायात्। तेन नाट्य एव रसा न लोक इत्यर्थः। काव्यञ्च नाट्यमेव।

अत एव च नटे न रसः। कुत्र तर्हि। विस्मृतिशीलो न बोध्यते। उक्तं हि देशकालप्रमातृभेदानि (त्रि) सन्त्रितो रस इति। केयमाशङ्का। नटे तर्हि किम्। आस्वादनोपायः। अत एव च पात्रमित्युच्यते। न हि पात्रे मद्यास्वादः। अपि तु तदुपायकः तेन प्रमुखमात्रे नटोपयोग इत्यलम्।

चित्रपुस्ताद्यपि च नाट्यस्यैवार्थभागाभिष्यन्दो यथा सर्गबन्धादिशब्द-भागोभिष्यन्दः। एतच्च 'योऽर्थो हृदयसंवादी।' (ना. शा. ७-१०) इत्यत्र वितत्य वक्ष्यामः।

अन्ये त्वभिनयादिसामग्रीमयं बहिर्दृश्यमानं नाट्यं नटधर्मः कर्म रूपमित्याशयेन नाट्याद्रसा इत्याहुः। स्मृता इति सम्प्रदायाविच्छेदं दर्शयति। ये तु रत्याद्यनुकरणरूपं रसमाहुः अथ चोदयन्ति शोकः कथँ सुखहेतुरिति। परिहरन्ति च अस्ति कोऽपि नाट्यगतानां विशेष इति। तत्र चोद्यं तावदसत्। शोको हि प्रतीयमान किं स्वात्मनि प्रत्येतुर्दुःखं वितनोतीति नियमः। अन्यत्र च मध्यस्थत्वात्।

अत्राह—किं रसेभ्यो भावानामभिनिर्वृत्तिरुताहो भावेभ्यो रसानामिति। केषाञ्चिन्मतं परस्परसम्बन्धादेषामभिनिर्वृत्तिरिति तन्न। कस्मात्। दृश्यते हि भावेभ्यो रसानामभिनिर्वृत्तिर्न तु रसेभ्यो भावानामभिनिर्वृत्तिरिति। भवन्ति चात्र श्लोका—

अस्मन्मते संवेदनमेवानन्दघनमास्वाद्यते। तत्र का दुःखाशङ्का। केवलं तस्यैव चित्रताकरणे रतिशोकादिवासनाव्यापारः। तदुद्बोधने चाभिनयादि-व्यापारः। (३३)

यदेतदुक्तं रसतत्त्वं तदेवोपशोधयितुमुपक्रमते—अत्राहेत्यादिना चोद्यमुखेन। नर्तकगतेभ्योरसेभ्यो भावाः सामाजिके। यथा करुणाच्छोकः ततो विभावद्युपचितसामाजिके करुण इति रसाद्भावो भावाद्रस इति सन्देह। अत एव परस्परमपि जन्म कालभेदेनेति तृतीयः पक्षः। यदिवा नट एव राम एव चापूर्वं भावः। तत उपचये रसः। ततोऽप्यपचये भाव इत्येवं पक्षत्रयोत्थानम्। इदं चासत् एवम्भूतस्य रसस्वरूपस्य निराकृतत्वात्।

श्रीशङ्कुकस्त्वाह—अनुकर्तरि रसानास्वादयतोऽनुकार्ये भावप्रतीतिः प्रयोगे। लोके प्रकृतिं (तिः) रसं निष्पादयतीति। द्वितीयपक्षो नाट्याचार्य-भिप्रेतशिक्षानुसारेण। अत एव च तृतीयोऽपि संभवति। एतदप्यसत्। न हि सामाजिकोऽनुकार्यानुकर्तृविभागमवैति। दूषितः स्वा (तश्चा) नुकरणवादः।

तस्मादित्थमेतत्—किं रसेभ्यो भावा उत विपर्ययः आहो अन्योन्यजनकतेति त्रयः प्रश्नाः। आहोशब्दो भिन्नक्रमः। विभावादिभ्यस्तावद्र-सनिष्पत्तिरुक्ता। स एव द्वितीयः पक्षोऽभ्युपगतपूर्वमे (गतः पूर्वम्। ए) तच्च कथम्। न हि लोके विभावानुभावादयः केचन भवन्ति। हेतुकार्यावस्था-भावत्वाल्लोके तेषाम्। अथ त एव रसनोपयोगित्वे विभावादिरूपतां प्रतिपद्यन्ते। तर्हि रसप्रसादाद्भावा विभावादयः। अथोच्यते विभावादिप्रसादाद्रसो यथोक्तं प्राक्। रसप्रसादाच्च विभावादिरूपत्वम्। तर्हि परस्पराश्रयत्वम्। इतरेतराश्रयाणि च न प्रकल्पन्त इत्याक्षेपः।

अत्र सिद्धान्तमाह—दृश्यते हीति। प्रमदादयः प्रतीताः सन्तो रसास्वादं विदधते यथोक्तं प्राक्। अतो न रसेभ्यो भावाः भावशब्दार्थपर्यालाचनया-

नानाभिनयसम्बद्धान्भावयन्ति रसानिमान्।
यस्मात्तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः॥ ३४॥
नानाद्रव्यैर्बहुविधैर्व्यञ्जनं भाव्यते यथा।
एवं भावा भावयन्ति रसानभिनयैः सह॥ ३५॥
न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः।
परस्परकृता सिद्धिस्तयोरभिनये भवेत्॥ ३६॥
व्यञ्जनौषधिसंयोगो यथाऽन्नं स्वादुतां नयेत्।
एवं भावा रसाश्चैव भावयन्ति परस्परम्॥ ३७॥

चैतदेवोष पन्नमिति श्लोकेनाह—नानाभिनयैः सम्यगबद्धान् हृदयं गतान् भावयन्ति सम्पादयन्ति रसांस्तस्माद्भावाः। (३४)

नन्वेतद्भावशब्दप्रवृत्तिनिमित्तम्। न तत्प्रकृतं किञ्चिदुक्तमित्याशङ्क्य प्रकृते योजतितुमाह—नानाद्रव्यैरिति। व्यज्यत इति व्यञ्जनञ्चानुपानादि रसोऽत्राभिप्रेतः। बहुविधैरिति व्यञ्जनस्योपक्षणम्। अभिनयैरित्यम्य वा विशेषणम्।

एवं स्थितपक्षमुपसंहरति—भावहीनोऽस्ति रस इति। अत्र चोद्यवादी स्वाशयमुन्मीलयति-न भावो रसवर्जित इति। लोके हि न कश्चिद्वि-भावादिव्यवहार इति भावः। अथोत्तरमाह-परस्परकृता सिद्धिस्तयोरभिनये

भवेत्। अभिनये साक्षात्कारे सम्पन्ने तदुपयोगितया विभावादिव्यपदेश इत्यतो या परम्परकृता सिद्धिः सा भद्रं भवेदिति संभाव्यते। एवम्भूतमितरेतराश्रयजं न दूषणमित्यर्थः।

अवैव दृष्टान्तमाह—व्यञ्जनौषधिसंयोग इति। व्यञ्जनौषधिसंयोगोऽन्नं च कर्तृ यथा परस्परसन्योन्यं कर्मभूतं स्वादुतां नयेत् तथा भावा रसाश्चान्योन्यं भावयन्ति। भावा रसान्भावयन्ति निष्पादयन्ति। रसास्तु भावान् भावयन्ति। भावान्कुर्वन्ति। भावादिव्यपदेश्यान्कुर्वन्तीत्यर्थः।

एतदुक्तं भवति—एकत्रैकदा क्रियायामन्योन्याश्रयत्वं दोषो न तु क्रिया-भेदे। यथा व्यञ्जनादिसंयोगेनान्नस्याह्लादि रसवत्ता क्रियते। अन्नेन चाश्रयरूपेण सता व्यञ्जनसुखयोग्यता क्रियते। एवं भावे रस्यमानता। रसैश्च विभावादिव्य-पदेश्यता कारणादीनाम्। यथा पटापेक्षया तन्तवः पटकारणमिति व्यपदेश्याः। तन्त्वपेक्षया पटः कार्यः। न चेत (रेत) राश्रयं (यत्वं) तथा प्रकृतेऽपीति। (३७)

यथा बीजाद्भवेद्वृक्षो वृक्षात्पुष्पं फलं यथा।
तथा मूलं रसाः सर्वे तेभ्यो भावा व्यवस्थिताः॥ ३८॥

ननु यदि भावेभ्यो रसास्तर्हि कथमुक्तं 'न हि रसादृते कश्चिदप्यर्थः प्रवर्तते। तेन पूर्वं त एवोद्देश्याः' इत्याशंक्याह—यथेत्यादिना। बीजं यथा वृक्षमूलत्वेन स्थितं तथा रसाः। तन्मूलादि(हि)प्रीतिपूर्विका व्युत्पत्तिरिति ततरे (त एव) च व्याख्यानार्हाः। कविगतसाधारणीभूतसंविन्मूलश्च काव्यपुरस्सरो नटव्यापारः। सैव च संवित्परमार्थतो रसः सामाजिकस्य च तत्प्रतीत्या वशीकृतस्य पश्चादपोद्धारबुद्ध्या विभावादिप्रतीतिरिति प्रयोजने (नं) नाट्ये काव्ये सामाजिकधियि च। तदेवं मूलं बीजस्थानीयात्क(यः क)विगतो रसः। कविर्हि सामाजिकतुल्य एव। तत एवोक्तं "शृङ्गारी चेत्कविः।" (ध्वन्यालो ३-४२) इत्याद्यानन्दवर्धनाचार्येण। ततो वृक्षस्थानीयं काव्यम्। तत्र पुष्पादिस्थानीयोऽभिनयादिनटव्यापारः। तत्र फलस्थानीयः सामाजिकर-सास्वादः। तेन रसमयमेव विश्वम्।

अत्र च विज्ञानवादो द्विधाभिधानं स्फोटतत्त्वं सत्कार्यवाद एकत्व-दर्शनमित्यदि च द्रष्टव्यम्। वयं तु प्रकृतानुपयोगिश्रुतलवसन्दर्शनमिथ्याप्रयास-संश्रयमशिक्षितपूर्विण इत्यास्ताम्।

अन्ये तु बीजादिव भावाद्रसवृक्षस्ततोऽप्यभिनयकुसुमसुन्दरात्फलमिव भावः प्रतीत्या भुज्यत इति व्याचक्षते। तैः प्रकृतविरुद्धं सर्वं व्याख्यातम्। एवं हि भावस्यैवोपक्रमपर्यवसानवर्तित्वमुक्तं स्यादित्यास्तां चैतत्। एवं त्रयोऽपि पक्षाः कथञ्चिदुपगता अभिप्रायवैचित्र्येणेति तात्पर्यम्।

तदेषां रसानामुत्पत्तिवर्णदैवतनिदर्शनान्यभिव्याख्यास्यामः।

एवमुद्दिष्टानां विभक्तानां च रसानां सामान्यलक्षणं परीक्षापरिशुद्धमभिधाय तदनुवादपूर्वकं विशेषलक्षणं वक्तुं पीठबन्धं दर्शयति—तदेषामित्यादिना। यतः सामान्यलक्षणमेतेषां कृतं तस्माद्विशेषफलक्षणांशपूरकाण्युत्पत्त्यादीनि व्याख्यास्यामः। तत्रोत्पत्तिरुत्पादकानामुत्पाद्यानां च विशेषलक्षणम्। अन्योन्यतो व्यवच्छेदात्। उत्पादकानामप्येतदुत्पादकत्वमुत्पादकान्तराद्वैलक्षण्यमुत्पाद्यकृतम्। एवमुत्पाद्यानामुत्पादककृतमिति परस्परलक्षणत्वम्। वर्णः श्वेतादि तु (अस्ति) सुस्पष्टं वि (शेष) लक्षणादि। एवं निदर्शनं तु शृङ्गारो नामेत्यादिना विभावादिविशेषसंयोगः। उत्पत्तिलक्षणा (णे) ह्यन्योन्याश्रयशङ्का वर्णदेवतयोस्त्वागमानुविद्धत्वं स्फुटमिति निश्चयदर्शनोपायत्वमुत्पत्त्यादीनां न संभवति। विभावादि विशेषसंयोगस्तु तद्वैलक्षण्यान्निदर्शनमित्युक्तम्। (३८)

तेषामुत्पत्तिहेतवश्चस्वारो रसाः। तद्यथा—शृङ्गारो रौद्रो वीरो बीभत्स इति। अत्र—

शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रसः।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च भयानकः॥ ३९॥
शृङ्गारानुकृतिर्या तु स हास्यस्तु प्रकीर्तितः।
रौद्रस्यैव च यत्कर्म स ज्ञेयः करुणो रसः॥ ४०॥

तत्रोत्पत्तिं तावदाह—तेषामित्यादिना। तेषां रसानामुत्पत्तौ हेवतः सूचकाश्चत्वारः। रसानामुत्पाद्योत्पादकप्रकारो यावान् सम्भवति स चतुर्भिरेव सूचित इति यावत्। तथा हि—तदाभासत्वेन तदनुकाररूपतया हेतुत्वं शृङ्गारेण सूचितम्। यतो विभावाभासादनुभावाभासाद्रत्याभासे प्रतीते चर्वणाभाससारः शृङ्गाराभासः कामना। अभिलाषमात्ररूपाहि रतिरत्र व्यभिचारिभावः। न स्थायी। तस्य स तु स्थायकिल्पत्वेनाभाति। तद्वशाद्विभावाद्याभासता। अतश्च स्थाय्याभसत्वं रतेः। यतो रावणस्य सीता द्विष्टा मय्युपेक्षिका बेति हृदयं नैव स्पृशतीति। तत्स्पर्शे ह्यभिमानोऽस्या (स्य) विलीयत एव। 'मयीयमनुरक्ता' इतितु निश्चयो ह्यनुपयोगी। कामजमोहसारत्वात्। शुक्तौ रूप्याभासवत्। यद्यपि—

"दूराकर्षणमोहमन्त्र इव मे तन्नाम्नि याते श्रुतिं
(चेतः कालकलामपि प्रसहते नावस्थितिं तां बिना।
एतैराकुलितस्य विक्षतरतेरङ्गैरनङ्गातुरैः
सम्पद्येत कथं तदासिसुखमित्येतन्न वेद्मि स्फुटम्॥")

इत्यादौ रावणवाक्ये तावति रत्याभासतैव। न तु हासः स्फुरति। तथापि सीताविभावल (विल) क्षणं रावणवयः (चः)। प्रकृति (त) विरुद्धश्च

(श्च)चिन्तादैन्यमोहादिकव्यभिचारिगणम(णोऽ)श्रुपातपरिदेवितादिचानुभावजातमनौचित्यात्तदाभासरूपं सद्धास्यविभावरूपम्। तद्वक्ष्यते—विकृतपरवेषालङ्कारेत्यादि। एवं तदाभासनया (ताया:) प्रकार: शृङ्गारेण सूचित:। तेन करुणाद्याभासेष्वपि हास्यत्वं सर्वेषु मन्तव्यम्। अनौचित्यप्रवृत्तिकृतमेव हि हास्यविभावत्वम्। तच्चा (त्रा) नौचित्यं सर्वरसानां विभावानुभावादौ सम्भाव्यते। तेन व्यभिचारिणामप्येषैव वार्ता। अत एव संवित्सतत्त्वनिपुणैश्चिरन्तनै रसभावतदाभासव्यवहारस्तत्र तत्र क्रियते। अमोक्षहेतावपि तदाभासतायां शान्ताभासोहास्य एव प्रहसनरूपम्य (रूप:।) अनौ (स्वानौ) चित्यत्याग: सर्वपुरुषार्थेषुव्युत्पाद्य:। एतच्च लक्षणे वक्ष्यते। तत्र हास्याभासो यथाऽस्मत्पितृव्यस्य वामनगुप्तस्य।

"लोकोत्तराणि चरितानि न लोक एष
सम्प्यन्यते यदि किमङ्ग वदाम नाम।
यत्त्वत्र हासमुखत (र) त्वममुष्य तेन
पार्श्वोपपीडमिह को न विजाहसीति॥"

एवं यो यस्य न बन्धुस्तच्छोके करुणोऽपि हास्य एवेति सर्वत्र योज्यम्। एतदेवोदाहरणम्। एवमन्यत्तेनानुमेयमिति मुनिना यथाग्रहणं कृतम्।

यदीयफलानन्तरं द्वितीयरसोऽवश्यंभावी तस्योदाहरणं रौद्र:। रौद्रस्य हि फलं बधबन्धादि। तद्विभावकेनाबश्यं करुणेन भाव्यम्। यथा वेणीसंहारे—

"अद्यैबावां रणमुपरातौ तातमम्बां च दृष्ट्वा
भ्रातस्ताभ्यां शिरसि बिनतोऽहं च दुश्शासनश्च।
तस्मिन्बाले प्रसभमरिणा प्रापिते तामवस्थां
पित्रो: पार्श्वं व्यपगतघृण: किं नु वक्ष्यामि गत्वा॥"

एवं रौद्रनन्तरं नियमेन भयानक:। शृङ्गागनन्तरं नियमेन करुणं (ण:)। व्याप्रियते त्वसौ तज्जन्मनि **यथातापसवत्सराजे** वासवदत्तादाहाद्वत्सराजस्य। ननु तत्रा (त्र) रतेरवि (तेर्वि) च्छेदाद्वन्धुताकृत: शोक:। नैतत्। करुणोत्पत्तिकालेऽपि हि क्रोधस्य विच्छेद एव।

यदाह 'निर्वाणवैरदहना: प्रशमादरीणां नन्दन्तु पाण्डुततया:॥ (वेणी अ:१-७) इति। न च बन्धुमा (तामा) त्रं हेतु। एवं हि सति—

('उत्कम्पिनी भयपरिस्खलितांशुकान्ता)
ते लोचने प्रतिदिशं विधुरे क्षिपन्ती।
(क्रूरेण दारुणतया सहसैव दग्धा

धूमान्वितेन दहनेन न वीक्षिताऽसि॥') (तापसवत्सराजे २-१६)

इत्यादौ ते इति प्राणभूतं (पदं) निरुपयोगितां गमितं स्यात्।

रतिप्रलापेषु च शृङ्गार एव करुणस्य जीवितम्—

'हृदये वससीति (मत्प्रिये यदवोचस्तदवैमि कैतवम्।

उपचारपदं न चेदिदं त्वमनङ्गः कथमक्षता रतिः॥ (कुमार. ४-९)

इत्याद्युक्तिषु।

एवं वीराद्भयानकोत्पत्तिः। यथा 'कर्णस्यात्मजमग्रतः शमयतो भीतं जगत् फाल्गुनात्' (वेणी. ५.५)

यत्त्वत्र श्रीशङ्कुकेनोक्तम्-नात्रोत्साहस्य व्यापार इति। तदसत्। एवं हि निर्विषय एवोत्साहः स्यात्। कर्तव्याननुसन्धानात्। युद्धवीरे च परपराजयजनितः प्रतापापरपर्यायः शत्रुहृदयदाहदायी तद्वनितादिषु भयानक एव जीवितम्। यथा—

'स पातु वो यस्य हतावशेषास्तत्तुल्यवर्णाञ्जनरञ्जितेषु।

लावण्ययुक्तेष्वपि वित्रसन्ति दैत्याः स्वकान्तानयनोत्पलेषु॥'

नियमेन तु भवतीति वक्तव्यम्। नियमश्चकारेणोक्तो गैद्रदित्यानन्तर्यसूचक-श्चम्यनन्तरं प्रयुक्तेन।

यस्तु रसो रसान्तरं फलत्वेनाभिसन्धाय प्रवर्तते तस्योदाहरणे वीरः। महापुरुषोत्साहो हि जगद्विस्मयफलाभिसन्धानेनैव।

यथा—'दोर्दण्डाञ्चितचन्द्रशेखरधनुर्दण्डावभङ्गोद्यत' (महावीर २-५४) इत्यादि। रौद्रस्तु परविनाशनं फलत्वेनाभिसन्धाय प्रवर्तते न करुणमिति शे (विशे) षः। विदूषकहासस्तु नायिकाहासं फलत्वेनाभिसन्धत्त इति मन्तव्यम्।

यस्तु रसस्तुल्यविभावत्वान्नियमेन रसान्तरं हि परमाक्षिपति तस्योदाहरणं वीभत्सः। तस्य हि ये विभावा रुधिरप्रभृतयस्तेऽवश्यं भयहेनवः। तथा तद्व्यभिचारिणो मरणमोहापस्माराद्याः। तदनुभावास्तु मुखविकूणनादयः।

यथा वेणीसंहारे—

'संस्तभ्यन्तां निहतदुश्शासनपीतशेषशोणितषी तस्मापि नवीनभस-वृकोदरदर्शनवैक्लव्यस्खलितप्रहरणानि रणाद्विद्रवन्ति बलानि' इति (वेणी ४.)

वीरस्यापि च यत्कर्म सोऽद्भुतः परिकीर्तितः।

बीभत्सदर्शनं यच्च ज्ञेयः स तु भयानकः॥ ४१॥

एवं तदाभासनदद्वा (सद्वा) रेण रसान्तराक्षेपकत्वे शृङ्गार उदाहरणम्। तेन शृङ्गारानुकृतिरित्यत्र तुशब्दो वीप्सायाम्। द्वितीयो हेतौ। तेनैवं योजना—या

अनुकृतिः स हास्यो यतः प्रकीर्तितः एवंविभावको हास्य इति शेषः। तद्यथा शृङ्गार आद्यः (रः स्यात्)। शृङ्गारवत्य (वद) नुकृतिरित्यर्थः।

यत्वत्र शृङ्गारादद्भुतोत्पत्तेराशङ्का 'दृशः प्रथुतरीकृता' (रत्ना २-१५) इत्यादौ (तत् निर्मूलमेव। उदयने हि शृङ्गारः। ब्रह्माणि विस्मयसम्भावना। सा च न तात्कालिकत्वेन नोत्तरकालिकत्वेन। किन्तु पूर्वतरमेवेति न किञ्चिदेतत्।

परस्पर (रम्परा) फलत्वेन रसान्तराक्षेपे रौद्र उदाहरणम्। सैद्रस्य यत्कर्म फलात्मकं बधादि चकारात्तस्य यत्कर्म फलरूपं स एव करुणः। एव-कारेणात्यन्तव्यवहितां परम्परां पराकरोति। (४०)

समनन्तरफलत्वेन रसान्तराक्षेपे उदाहरणं त्वस्ययोगः वीरस्य(वीरस्यापीति—यो वीरस्य) सम्यङ्निकटं यत्फलं सोऽद्भुतः परितः समन्ताद्या कीर्तिः यशःप्रतापरूपा ततो हेतोः। अपिशब्दाच्छृङ्गारोपि वीरस्यान्तरं फलं द्रौपदीस्वयंवरादौ। सहभावेन रसान्तराक्षेपे वीभत्स उदाहरणम्।

यदेव वीभत्सस्य दर्शनं विभावादिरूपं स एव भयानकः। तद्विभावत्वादुपचारस्य। सहभावप्रती (तिः) फलम्। तमेव चशब्दो द्योतयति। तुः पूर्वतो विशेषमाह। अयमेव चाक्षेपः प्रकाशत्वात्संभाव्यते न व्यधिक इति। सा त्वस्यापि सन्न नोक्तः। ये चात्रोत्पत्तिहेतव उक्तास्ते यथा स्वयं पुरुषार्थचतुष्कव्याप्ताः। तद्धि तत्सौन्दर्यातिशयजननरूपम्। रञ्जका भी (हा)-सादयस्तदनुगामित्वेन रूपकेषु निबन्धनीयाः।

एतावन्त एव च रसा इत्युक्तं पूर्वम्। तेनानन्त्येऽपि पार्षदप्रसिद्ध्यैतावतां प्रयोज्यत्वमिति यद्भट्टलोल्लटेन निरूपितं तदवपलेपेनापरा 'मृश्येत्यलम्'। (४१)

वर्णाभिधानं पूजादौ ध्यान उपयोगि। मुखरागेऽपीत्यन्ये। स्वच्छपीतौ शमाद्भुताविति शान्तवादिनां पाठः। तत्तद्रससिद्धौ सा सा देवता पूज्येति देवतानिरूपणम्। विष्णुः कामदेवः। प्रमथा भगवतो गणाः क्रीडापराः। रुद्रस्त्रै-लोक्यसंहारकर्ता। अत एव चोदयतीति निय (च यमयतीति य) मेन वधादिके

अर्थ वर्णाः—

श्यामो भवति शृंङ्गारः सितो हास्यः प्रकीर्तितः।
कपोतः करुणश्चैव रक्तो रौद्रः प्रकीर्तितः॥ ४२॥
गौरौ वीरस्तु विज्ञेयः कृष्णश्चैव भयानकः।
नीलवर्णस्तु बीभत्सः पीतश्चैवाद्भुतः स्मृतः॥ ४३॥

अथ दैवतानि

शृङ्गारो विष्णुदैवत्यो हास्यः प्रमथदैवतः।
रौद्रो रुद्राधिदैवत्यः करुणो यमदैवतः॥ ४४॥

बीभत्सस्य महाकालः कालदेवो भयानकः।
वीरो महेन्द्रदेवः स्यादद्भुतो ब्रह्मदैवतः॥ ४५॥

एवमेतेषां रसानामुत्पत्तिवर्णदैवतान्यभिव्याख्यातानि। इदानीमनुभावविभावव्यभिचारिसंयुक्तानां लक्षणनिदर्शनान्यभिव्याख्यास्यामः। स्थायिभावांश्च रसत्वमुपनेष्यामः।

सम्पादिते करुणः। महाकालोऽधिदैवतमिति शेषः। स हि तद्विभावं कङ्कालं श्मशानादि सेवते। महेन्द्रस्त्रैलोक्यराजः। ब्रह्मा अचिन्त्याद्भुतस्रष्टा। (४५)

'बुद्धः शान्तेऽब्जजोऽद्भुते' इति शान्तवादिनः केचनपठन्ति। बुद्धो जिनः परोपकारैकपरः प्रबुद्धो वा। तत्रोत्पत्तिलक्षणमन्योन्याश्रयन्वान्न निश्चयकारि। वर्णदैवनात्मकमप्यागमसिद्धत्वादित्येकप्रघट्टकेनोपसंहरत्येवमित्यादिना। एतेपामिति सर्वेपामित्यर्थः।

अथ विशेषलक्षणानि वक्तुमासूत्रयतीदानीमित्यादिना। विशेषलक्षणं सजातीयाद्व्यवच्छेदकम्। न विजातीयाद्व्यवच्छेदं बिना सजातीयत्वम्। न चासौ सामान्यलक्षणं विनेति तत्पृष्ठे विशेषलक्षणमिति दर्शयितुं सामान्यलक्षणमनुवदत्यनुभावेत्यादिना। लक्षणानि च तानि निदर्शनानि च विशेषात्मकानि। तेन प्रत्येकं लक्षणविशेषा उच्यन्त इत्यर्थः। विशेषलक्षणानि वा सामान्यलक्षणस्य निदर्शनानि। येपु सामान्यलक्षणं निर्दिश्यते योज्यते उदाह्रियते च। तद्विना तस्योदाहर्तुमशक्यत्वात्। चकारो लोकोत्तरतयाऽऽदरं सूचयति। ये स्थायिनो भावा लोके चित्तवृत्त्यात्मानो बहुप्रकारपरिश्रमप्रसवनिबन्धन-कर्तव्यताप्रबन्धामिधायिनस्तानपि नाम रसत्वं विश्रान्त्येकायतनत्वेनोपदेशदिशा नेष्यामः। विभावान् यथायोगमुपहरद्भिः कविनटैर्हि ते रसतां नीयन्ते। यदाह—

"या व्यापारवती रसान्रसयितुं काचित्कवीनां नवा
(दृष्टिर्या परिनिष्ठितार्थविषयोन्मेषा च वैपश्चिती।
ते द्वे अप्यवलम्ब्य विश्वमनिशं निर्वर्णयन्तो वयं
श्रान्ता नैव च लब्धमब्धिशयन त्वद्भक्तितुल्यं सुखम्॥") इति।

(ध्वन्या ३.४३)

नटानां तु तदुपजीवितत्वान्न नवा दृक्पश्यति न रसयत्यतो नवेति। तस्माद्रसनोपयोगिविभावाद्यौचित्यमस्माभिरुपदिशद्भिः स्थायिनो रसतां नीता भवन्तीत्यनेन लक्षणरुपस्य फलं दर्शयति।

(अथ शृङ्गाररसप्रकरणम्)।

तत्र शृङ्गारो नाम रतिस्थायिभावप्रभवः। उज्ज्वलवेषात्मकः। यत्किञ्चिल्लोके शुचि मेध्यमुज्ज्वलं दर्शनीयं वा तच्छृङ्गारेणोपमीयते।

तत्र कामस्य फलत्वादशेषहृदयसंवादित्वाच्च तत्प्रधानं शृङ्गारं लक्षयति तत्रेत्यादिनोज्ज्वलवेषात्मक इत्यन्तेन सूत्रेण। तत्रेति क्रमनिर्धारणे। एवं सतीत्यर्थे वा। एतत्सूत्रभाष्येण व्यक्तम्। यल्लक्ष्यपदं नामेति। व्याचष्टे यत्किञ्चिदित्यादिना। हस्तपृष्ठतादि (हारादि) मण्डितः शृङ्गारवान्। तेन शुचिमेध्याद्युपमीयते। तेनोज्ज्वलवेषात्मके शृङ्गारशब्दः। न चातिप्रसङ्गः। आप्तोपदेशस्य नियामकत्वादिति चिरन्तनाः। तदनुपपन्नम्। उपमानोपमेययोर्विशेषविषयविभागानवभासात्तथा।

तस्मादयमत्रार्थः। रतिरेवास्वाद्यमानो मुख्यः शृङ्गारः। रतिमास्वादयद्भिस्तद्बहुमानपरः शृङ्गारीत्युच्यते। सज्जनादिप (दिः अप) र एव तद्व्यसनिता

यस्तावदुज्ज्वलवेषः—स शृङ्गारवानित्युच्यते। यथा च गोत्रकुलाचारोत्पन्नान्याप्तोपदेशसिद्धानि पुंसां नामानि भवन्ति तथैवैषां रसानां भावानां च नाट्याश्रितनां चार्थानामाचारोत्पन्नान्याप्तोपदेशसिद्धानि नामानि। एवमेष आचारसिद्धो हृद्योज्ज्वलवेषात्मकत्वाच्छृङ्गारो रसः। स च स्त्रीपुरुषहेतुक उत्तमयुवप्रकृतिः।

(तु व्यसनी)। सा रसनास्वाददशा लोके भवन्त्यपि न चिरमवतिष्ठते। तदास्वादे चोपयोगि यथास्वविभावादि तथा शास्त्र (स्त्रा) निषिद्धमजुगुप्सितं संस्फुटं (यत् स्फुटं) मनोहरं च तदुपचाराच्छृङ्गारशब्दवाच्यम्। तदाह—उपमीयते। तदुपयोगितया तथा मीयते लक्ष्यत इति यावत्।

क य (त) थेति दर्शयति-यस्तावदिति। तावद्ग्रहणेनावधारणवाचिना शृङ्गारवाच्यो मुख्योऽर्थस्तत्र नास्तीति दर्शयति—स शृङ्गारवानिति। तदनु (दु) ज्ज्वलवेपे शृङ्गारशब्द उपचरित इत्याह। ननु मुख्यतया रत्यास्वादे शृङ्गारशब्दस्य प्रवृत्तौ किं निबन्धनमित्याशङ्क्याह-यथा चेत्यादि। गोत्रं पितृसन्तानादि। कुलं मातृसन्तानं सूचयति। आचारो व्यवहारः। तत उत्पन्नानि लोके प्ररुढानि। मूले तु न। आद्याप्तोपदेशेन नामकरणलक्षणेन समयेन सिद्धानि। पुंसामिति मनुष्यजातेर्नराणां नारीणां च। नराणां हि पितृसन्तानानुसारि नाम विष्णुशर्मेत्यादि। स्त्रीणां तु मातृवंशानुसारि कनकप्रभा चन्द्रप्रभेति। एवं रसादीनां तच्छास्त्रवेदिवृद्धव्यवहारतो निरूढानि प्राक्तनब्रह्माद्याप्तप्रणीतानि नामानि।

तदेवोपसंहरति—एवं शृङ्गारो रसः। स आचारव्यवहाराल्लोकेऽपि सिद्धः। कुतो हेतोः। हृद्यादिवेषात्मकत्वात्। एतदुक्तं भवति—प्रतिशास्त्रसमयानुसारिणोऽपि शब्दास्तद्वृद्धव्यवहारपरम्परया लोके प्रसिद्धा उपचारतोऽन्यत्रापि व्यवह्रियन्ते। यथा—'साङ्ख्यपुरुषोऽयं न किञ्चित्करोति।

पूर्वरङ्गोऽत्र तेन मे विरचितः। अत्र महत (त्ता) न्योन्यमस्य' इति। तद्वदमी शृङ्गारादिशब्दा इहैव विपये मुख्याः। लोके तु साङ्ख्यपुरुषादिशब्दवत्।

यस्तु शृङ्गारशब्दस्या न्मीयेन (स्य मत्वर्थीयेन) व्युत्पत्तिमाह तस्य रूपमपि विस्मृतम्। आरकन् हि प्रत्ययोऽत आरब्धः। ('शृङ्गबृन्दाभ्यामारकन्') वार्तिक० ५-२-१२१) बृन्दारक इति यथा। अत एवोणादिषु निपातितोऽयं शब्दः। (शृङ्गारभृङ्गारौ। उ० सू०)।

यस्तु पृथग्भावेन गोत्रादिनामानि व्याचष्टे व्यावर्त्याभावात् तत्तदीक्षितानि। तस्य प्रकृते न किञ्चिदियमु (दप्यु) पयुज्यते। न च गोत्राचारोत्पन्ने नामनि नियमक आप्तोपदेशो लोके इत्यास्तामेतत्।

अथ रतिः स्थायीति सूत्रभागं भाष्येण स्पष्टयति—स चेत्यादिना। स्त्रीपुरुष-शब्देन परस्पराभिलाषसंभोगलक्षणया लौकिक्या 'अस्येयं स्त्री' इति या (धिया)। तेनाभिलाषमात्रसारायाः कामावस्थानुवर्तिन्या व्यभिचारि रूपाणीतिया (पानीताया) विलक्षणैव इयं स्थायिरूपा प्रारम्भादिफलप्राप्ति-पर्यन्तव्यापिनी परिपूर्णसुखैकफला रतिश (रु) क्ता भवति हेतुरस्य।

कविर्हि लौकिकरतिवासनानुबिद्धस्तथा विभावादीनाहरति नाट्यं चा (नटश्चा) नुभावान् यथा रत्यास्वादः शृङ्गारो भवतीति। आस्वादयितुरपि प्राक्कक्ष्यायां रत्यवगम उपयोगीत्युक्तः प्राक्।

एतदुक्तं भवति—रतिक्रीडासार्धं च (रतिः क्रीडा सा च) परमार्थतः कामिनोरेव। तत्रैव सुखस्य धाराविश्रान्तेः। अवरस्य तु माल्यादिविषय-सौन्दर्यस्य कविना कृतस्य संकल्पत्वात्सवंदेनद्वितयान्योन्यनिमज्जनात्म-कमीलनाख्यो हि परमो भोगः। संविद एव प्रधानत्वात्। अन्यत्र तु जडस्य भोग्यत्वात्।

अत एवाह—'श्वासायासविडम्बनैव वपुषि प्राणाः पुनजनकी' इति।

अत एव यत्कैश्चिदचोद्यत—रतेराधारभेदेन भेदात्कथमेको रस इति। तदनभिज्ञतया। एकैवह्यसौ तावती रतिः। यत्रान्योन्यसंविदा एकवियोगो न भवति। अत एवोत्तमयुवप्रकृतिः। उत्तमश्चोत्तमा चोत्तमौ। एवं युवानौ। तत्रोत्तमयुवशब्देन तत्संविदुच्यते। न तु कायः। चैतन्यस्यैव हि परमार्थत उत्तमयुवत्वं विशेषः। स (सा) चावस्थावान् तत्र तत्र (स्था यत्र तत्र) व्यवहारस्य भूतत्वात् तत्प्रकृतिः। सा संविदास्वादयोग्यत्वात् शृङ्गाररसी-भवतीति। अनुत्तमत्वे तु (न) दार्ढ्यमयुवत्वे चेति न सा रतिसंवित्। वियोगस्य संभावनात्। अधियुक्तसंवित्प्राणस्तु शृङ्गारः। यथा—

वारिसिणि० चरिहिअदि हिल० गणाहुकंहविएक।

हुहिमुळजळसरणिमअळहुतीतिह विप० सि॥ इति

व्याख्याता (तः) परस्परं जीवितसर्वस्वाभिमानरूपा(पः)। वेपयति व्यापयति चित्तवृत्तिज्ञापनया संक्रमयतीति वेपो विभावानुभावात्मा। वेपयति (न्ति) व्याप्नुवन्ति स्थायिनमिति व्यभिचारिणः। ते चोज्ज्वला उत्कृष्टा यस्मिंस्तथाभूत आत्मा यस्येति।

तस्य द्वे अधिष्ठाने सम्भोगो विप्रलम्भश्च। तत्र सम्भोगस्तावत् ऋतुमाल्यानुलेपनालङ्कारेष्टजनविषयवरभवनोपभोगोपवनगमनानुभवन-श्रवणदर्शनक्रीडालीलादिभिर्विभावैरुत्पद्यते।

सूत्रे संक्षिप्य यद्विभावादि निरूपितं तद्विभागेन व्याख्येयमित्याशयेन शृङ्गारस्यावस्थाभेदमाह—तस्य द्वे इत्यादिना। अधिष्ठाने अवस्थे इत्यर्थः। अधिष्ठीयतेऽवस्थात्र (त्रा) शृङ्गाररूपेण। तेन शृङ्गारस्येमौ भेदौ। गोत्वस्येव शाबलेयत्वबाहुलेयत्वे। अपि तु तद्दशाद्वयेऽप्यनुयायिनी या रतिराम्वाद नात्मिका तस्याश्चास्वाद्यमानं रूपं शृङ्गार यदाहुः—

"(एतस्मान्मां कुशलिनमभिज्ञानदानाद्विदित्वा
मा कौलीनादसितनयने मय्यविश्वासिनी भूः।
स्नेहानाहुः किमपि बिरहह्रासिनस्तेऽप्यभोगा-
दिष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशीभवन्ति॥ इति॥

(मेघ० २.४५)

अत एव सम्भोगे विप्रलम्भसम्भावनाभीरुत्वं विप्रलम्भेऽपि सम्भोगमनोराज्या (रथा) नुबेध इति इयच्छृङ्गारस्य वपुः। अभिलापेर्ष्याप्रवासादिदशा-स्त्ववैवान्तर्भूताः। सत्यानास्थाबन्धात्मिकायां रतौ तेन (?) सम्भोगशृङ्गार इत्यादिव्यपदेशोऽभोगेऽप्युपचारात्। अत एतद्दशाद्वयमेलन एव सत्यतः सातिशयचमत्कारः। यथा—

"एकस्मिन् शयने पराङ्मुखतया वीतोत्तरं ताम्यतो-
रन्योन्यं हृदयस्थितेऽप्यनुनये संरक्षतोर्गौरवम्।
दम्पत्योः शनकैरपाङ्गवलनान्मिश्रीभवच्चक्षुषो-
र्भग्नो मानकलिः सहासरभसव्यासक्तकण्ठग्रहम्॥"

(अमरुक-२३)

तत्र हीर्प्याविप्रलम्भसम्भोगमेलनात्मिकैवैकप्राणीभूतोभयगतविभावानुभाव्यभि चारिकृता सातिशया रसानुभूतिः। तेन यच्चोदितं श्रीशङ्कुकेन पुरूरवस उन्मदे वत्सराजम्य तापसत्वे चानुज्ज्वलवेषत्वं विप्रलम्भशृङ्गारेऽपि (इति)

तदनवकाशमेव। भोगस्य रसत्वाभावात्। स्नानाद्यवस्थानामिव। यत्त्वत्रोत्तरं तावद्दत्तं स्थैर्यादुज्ज्वलवेषाभावेऽपि रतिमुत्तमा न विजहतीति तद्यक्षभाषितम्। प्रकृतचोद्यापरिहारात्।

न हि (नु) चोदितमनुज्ज्वलवेषे कथं शृङ्गार इति। तदेवास्तु चोद्यमिति चेत्—न वचनस्यातिभारोऽस्ति। न तु मुनिनैवमुक्तं सत्युज्ज्वलवेषे शृङ्गार इति। अपि तु विपर्यय इत्यास्तामेतत्।

तत्रेति। द्वयोरवस्थयोर्मध्ये सम्भोगावस्था तावदुच्यते। तत्रेह वस्तुतः स्त्रीपुंसौ परम्परं विभावौ। तयोरुत्तमत्वे चोपयोगीनि ऋत्वादीनि। उत्तमस्यानवसरे रत्यभावात्। ऋतुर्वसन्तादिः। माल्यं कुसुमादिः। अनुलेपनं समालम्भनं यद्यत्कामस्योद्दीपकम्।

असमाप्तजिगीषस्य स्त्रीचिन्ता का मनस्विनः।
अनाक्रम्य जगत्कृत्स्नं किं सन्ध्यां भजते रविः॥ इति॥

(राज० तर० ४.४४२)

विषया गीतादयः। तदन्तर्भूतमपि माल्यादि प्राधान्यात्पृथगुक्तम्। वरभवनं हर्म्यादि। एतद्देशविशेषोपलक्षणम्। एषामुपभोगः। उपवनस्योद्यानस्यानुभवनं श्रवणं वा प (व) रभवनस्थस्यापि। एतत्सङ्कल्पादेरप्युपलक्षणम्। क्रीडा जलावगाहनादिका। लीला जनस्यानुकृतिः। अनु (आदि) ग्रहणादन्यदपि हृद्यं हंसयुगलकचित्रपुस्तकदर्शनादि। एतच्च समस्तमेव शृङ्गारविभावत्वेन मन्तव्यम्। यावान्कश्चिदयं विपयसम्भारो हृद्यतमस्तत्पूर्णतायां सत्यामुत्तमस्य रत्युदयः। अत एव रत्नावल्यां हर्म्यवर्णनमुद्यानगमनं कामदेवपूजा वसन्त इत्यादि सर्वमेवाव संगृहीतं 'राज्यं निर्जितशत्रु योग्यसचिवे न्यस्तम्' इत्यादिना। एवञ्च सर्व एव समुदितो विभाव इति काल्पनिकमालम्बनविभाव उद्दीपनविभाव इति। अत एव मुनिना नायं क्वचिद्विभाग उक्तः सूचितो वा। युक्तञ्चैतत्। यथैकत्रैव रूपके उद्यानर्तुमाल्यादीनां सर्वेषां दर्शनादेको रसः स्यात्। विभावाभेदात्।

ननु प्रथमं (प्रम दामात्र) दर्शने नोद्यानभवनादिसम्भवः। क एवमाह। ऐश्वर्यपूर्णस्य हि तावदात्मीयसमृद्धिसम्भारसंस्कारानव (राव) गमात् पूर्णतैव विभाववर्गस्य। तत्प्रधानं हि रूपकं तत्र तत्रोदाहरणम्। तेन पृथकपृथगुदाहरण दानमनुपपन्नम्।

या तु मुक्तकादौ पृथक्तया भावेऽपि रससंवित् तत्रोत्तमे च तापस (तावत) स्तवानुसन्धानाञ्चमत्कार इति। इयांस्त्वनुत्तमादिविषयेऽपरि-पूर्णोद्दीपनत्वेन चमत्कारो दृश्यते—

तस्य 'नयनचातुर्यभ्रूक्षेपकटाक्षसञ्चार ललित । प्रचुराङ्गहार' वाक्यादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः।

यथा हि 'वर्धते लुनाहि पणीलुदिंसिगमिहा अमहंह भुवं हचदुधरीदुल्लए लंधा।' इति तथा 'कमसूपे रङ्ग' इत्यादि (?)। तत्रैकाङ्गस्य सौभाग्यस्य प्राधान्याच्चमत्कारोदय इति तात्पर्यम्। न तु तदभावकृता चमत्कृति।

एतैः कविनोपनिबद्धैर्नटेन च साक्षात्कारकल्पतामानीतैः सम्यगित्यविघ्न-भोगात्मकसम्भोगो रस उत्पद्यते झटित्येव। न हि गमनक्रियावत् पर्यन्ते रसनाक्रिया निष्पद्यते। अपि तु प्रथम एवावसरे। स च विभावसाक्षात्कारात्मक एव। तस्य तु प्रथमकक्ष्यायामेव रसनागोचरत्वाभिमतस्य नयनचातुर्यादिभी स्सै (सो) रसनाद्याभिमुख्यं नीयते। अत एव तेऽभिनया अनुभावाश्च। आभिमुख्यनयनमनुभावनं च। तद्रसास्वादे समर्थाचरणमुद्दीपनम्। अत एव तदभावे विभावादिवर्णनप्रधानेऽपि काव्ये न चमत्कारः। रसनायास्तत्राभावात्। यथा विन्दो (कवीन्दो) र्भट्टेन्दुराजस्य—

"उपपरिसरं गोदावर्याः परित्यजताध्वगाः
सरणिमपरो मार्गस्तावद्भवद्भिरवेक्ष्यताम्।
इह हि विहितो रक्ताशोकः कयापि हताशया
चरणनलिनन्यासोदञ्चन्नवाङ्कुरकञ्चुकः॥" इति।

एवमन्यत्राप्युपपद्यत इति तस्याभिनयादिर (दि यो) जनीयम्।

ननु विभावानां साधारण्यं कथम्। नियमेनैवं हि न नाट्ये। इयांश्चाव कविप्रयत्नसमर्प्यमाणः। तेन तद्भावात्प्रयोजकधर्मोद्रिकप्रकाशविशिष्टसमब लात्प्रमुख एव विशेषविश्रान्ततां याति। तथा 'हा प्रिये जनकराजपुत्रीति' इत्ययं श्रुत एव न रतिव्यतिरेकेण भावान्तरविभावता शङ्क्या। 'एतेन कुणपं (पे) कामिनी' इत्यादिसम्भावनं प्रत्युक्तम्।

तत्र नयनचातुर्यादिना कान्ता दृष्टिर्लक्ष्यते। यत्तु भ्रुवोर्मूलसमुत्क्षेपश्च-तुरमिति (ना०शा० ८.४७) वक्ष्यते। सभ्रूक्षेपेण चोक्तम्—'विवर्तनं कटाक्ष' (ना०शा० ८-१००) इति ताराकर्म। एवं च योजना—नयनानां चातुर्येण सभ्रूक्षेपेण कटाक्षेण च यद्यत्सञ्चारणं ललितं मन्थरं मधुरं नयनाभिरामं कृत्वा यान्यङ्गानां हरणानि स्वकर्तव्यकाले ललितानि सुकुमाराभिधेयानि मधुराणि च श्रवणसुखकराणि यानि। वाक्यानीत्युपाङ्गाभिनय आङ्गिको वाचिकश्च लक्षितः।

अत एव सामान्याभिनयाध्याय (ना०शा० अ-२२) वक्ष्यमाणाशेषचेष्टालङ्कारलाभ इति ललितमधुरशब्दौ तदर्थावित्यसत्।

आदिग्रहणात्सात्त्विको मुखरागपुलकादिर्गृह्यते। अनुभावकत्वेन ताटस्थ्य-परिहारः। आभिमुख्यनयनेन स्वात्मैकविश्रान्तिशङ्कानिरासः। एवमुत्तरत्रापि।

'व्यभिचारिणश्चास्यालस्यौग्र्यजुगुप्सावर्ज्याः। विप्रलम्भकृतस्तु निर्वेदग्लानिशङ्कासूयाश्रमचिन्तौत्सुक्यनिद्रा' स्वप्नविबोधव्याध्युन्मादापस्मारजाड्यमरणादिभिरनुभावैरभिनेतव्यः।

एवं विभावसमय एव रसनीयस्यानुभावावसरेऽवस्थावेशवैरस्याम्पदस्य पश्चाद्व्यभिचारिणः स्वामेव रसनीयतां चित्रयन्तः सातिशयं पुष्यन्तीति पश्चात्ते निरूप्यन्ते—व्यभिचारिणश्चास्येति। आलस्यौग्र्यजुगुप्सा वर्ज्यमाना येभ्यस्ते सर्वे व्यभिचारिणः। अस्येति दशाद्वयमयस्येत्यर्थः। जुगुप्सा स्थायिन्यपीह निषिद्धा न्यायसिद्धा स्थायिनामपि व्यभिचारिवयमनुज्ञापयति। आलस्यादि च स्वविभावप्रमा (म) दादिविषयमेव निषिद्धन्। तेन 'वपुरलससद्वाहु लक्ष्म्याः' (वेणी- १-२) इति तथा 'कतिचिदहानि वपुरभूत् केवलमलसेक्षणं तस्याः' (विक्र० ५-८)। इत्यादिनापि रूपकं मन्तव्यम्। एवं प्रयोगे काव्ये च विभावादीनां क्रम एव समाश्रयणीयः। उत्पूर्वस्य उद्धृतस्य लब्धप्रतिष्ठता। तथाभूतस्य परिवारसंघटनमिति हि प्रतीतिक्रमः।

ननु निर्वेदादयः सम्भोगे न व्यभिचारिण इत्याशङ्क्याह—विप्रलम्भकृतस्त्विति। तुशब्दो विशेषं द्योतयति।

वाक्यैकवाक्यतया दुःखप्रायनिर्वेदादि मुक्त्वा आलस्यादिव्यतिरिक्ताश्च सुखमया एव धृत्यादयोऽत्र व्यभिचारित्वेन सम्भोग उपन्यस्ता इति प्रकटयति। परस्परांशोपजीवनं चात्र जीवितमिति दर्शयितुमस्येत्यनुद्भिन्नमेवोक्तम्। तत एव च भगवदनुग्रहपवित्रवाचा कालिदासेन रघुवंशे सम्भोगविप्रलम्भात्मकव्यामिश्ररसनासम्पत्तये प्रत्यनीकोद्देशेन रामभद्रस्य स्वकर्म पूर्वावस्थावर्णनेनादृतम्।

स्वप्ना (सुप्ता) न्तर्भूतोऽपि स्वप्नः प्राधान्यादुपात्तः। 'क नीलकण्ठ व्रजसि' इति (कुमा- ५-५४)। 'सिविणवए विहुदोसुजपउसुमराविउतरूढ-संखुआसिपुअगळगाळविउति।' तथा 'आहूतोऽपि सहायैः' इत्यादौ हि स एव प्राणः। सम्भोगदशायां तु विभावसान्निध्ये निद्राद्यभावाद्विबोधोऽपि व्यभिचारी। सम्भोगेऽपि रतिश्रमकृतनिद्रादि यद्यप्यस्ति तथाऽपि न रतौ तच्चित्रतामाधत्ते। विप्रलम्भे तु तद्रतिभावनापरस्परोऽत (नापरम्। अत) एव निद्रादिबाहुल्यापेक्षं चेत्थमभिधानम्।

उन्मादापस्मारव्याधीनां या नात्यन्तं कुत्सिता दशा सा काव्ये प्रयोगे च दर्शनीया। कुत्सिता तु सम्भवेऽपि नेति वृद्धा। वयं तु ब्रूमः। तादृश्यां दशायां

स्वजीवितनिन्दात्मिकायां तद्देहोपभोगसाररत्यात्मकावस्थावन्धोऽपि विच्छिद्यत एवेति सम्भव एव। मरणमचिरकालप्रत्यापत्तिमयमत्र मन्तव्यम्। येन शोकोऽवस्थानमेव न लभते। यथा—

तीर्थे तोयव्यतिकरभवे जह्नुकन्यासरय्वो-
र्देहत्यागादमरगणनालेख्यमासाद्य सद्यः।
पूर्वावस्थाधिकचतुरया सङ्गतः कान्तयाऽसौ
लीलागारेष्वरमत पुनर्नन्दनाभ्यन्तरेषु॥

(रघु० ८-९५)

अत एव सुकविना वाक्यभेदेनापि मरणमाख्यातम्। प्रतीतिविश्रान्तिस्थानत्वपरिहाराय तृतीयपादेन विभावानुसन्धानकं दर्शनम्। पुनर्ग्रहणेन स एवार्थः सुतरां द्योतितः।

अन्ये त्वाहुः मरणमिति न जीवितवियोग उच्यते। अपि तु चैतन्यावस्थैव प्राणत्यागकर्तृतात्मिका। या सम्बन्धाद्यवसरगता मन्तव्या व्यभिचारिभावेनेति सुलभोदाहरणमेतदिति। आदिशब्देन दैन्यमोहादयः। एते व्यभिचारिणोऽपि स्वानुभावैरनुभाविता विप्रलम्भमनुभावयन्ति। तस्मादनुभावैरित्युक्तम्।

अत्राह—यद्ययं रतिप्रभवः शृङ्गारः कथमस्य करुणाश्रयिणो भावा भवन्ति। अत्रोच्यते—पूर्वमेवाभिहितं सम्भोगविप्रलम्भकृतः शृङ्गार

अन्ये त्वादिशब्दं करुणवाचिनमाश्रित्य तदीयानुभावान्प्राधान्येन दर्शयन्ति। एकशेषेण द्वयमप्यन्ते। विप्रलम्भो विडम्बनं सिद्धम्। इह तूपचारात्तदीयं फलं विरहात्मकं गृह्यते। न हि परस्परं रतिमतोर्विडम्बनमस्ति। तेन विरहेण कृतः सुष्ठुतमां प्रो (पो) पित इति दर्शयन्मुनिरनेन विना शृङ्गारो न प्रयोगे न काव्ये हृद्यतामवलम्बत इति दर्शयति।

तथा हि—सम्भोगेऽप्येकघनशर्करास्वादस्थानीयतापरिहाराय वैषम्यं गोत्रस्खलितस्पर्धामन्यद्वा कलहविप्रलम्भहेतुभूतं कवयो निबध्नन्ति। 'वामो हि कामः' (काम०शा० २-७-१) इति वात्स्यायनादिभिरभिहितम्। मुनिनापि वक्ष्यते 'यद्वामाभिनिवेशित्वम्' इति (ना०शा० २२-२०७)। एते च व्यभिचारिणो विद्युदुन्मेषनिमेषयुक्त्यैव स्थायिसूत्रमध्ये प्रकटयन्तस्तिरोदधतश्च तद्वैचित्र्यमावहन्ति। न तु स्थिराः यद्यपि स्थाय्यपि न स्थिरः तथाऽपि संस्काररूपतया धारावाहिसजातीयप्रवाहरूपतया च स्थिर एव। व्यभिचारिणस्तु नैवं क्षणमपि भवन्ति। संस्कारमपि स्वकं स्थायिसंस्कार एव प्रौढयन्ति। तथैव स्मरणञ्च।

तेन व्यभिचारिपु पृथक्पृथग्यैः कै (श्रग्यत्कै) श्चिदुदाहृतं तन्न तन्त्रन्यायानुपाति तथा हि—धृतौ यदुहाहृतं 'असम्भाव्यं देवात्' इत्यादि तत्रापि हर्षविस्मयगर्वमतिप्रभृतीनां च 'तेति माम्' इति (?) वलितेत्यादिसूचितानां सम्भार एव। 'किमपरं त्रैलोक्यम्' इत्यादौ चाबान्तरवाक्यारम्भे स्मृतिप्रभृतिभिः सर्वत्र भाव्यम्। अन्यथा हि धृत्येकवचनत्वे सर्वत्र श्लोकार्थे दृष्टिरेकैव चित्रन्यस्तेव भवेत्। 'अस्यास्सर्गविधौ' (विक्रमोर्व १-१०) इत्यत्राप्यवान्तरवाक्यसमाप्तौ धृतिहर्षविस्मयादयो भवन्त्येव। अत एव विच्छिद्य विच्छिद्य वितर्कान्तरं समुदेति। न तु व्यभिचारी क्षणमप्यवतिष्ठते। चलं हि गुणवृत्तमिति हि तत्रभवन्तः। अत एव प्रयोगवैचित्रत्यम्। अन्यथाऽवैचित्र्यात्स एव प्रयोगः स्यात्। मध्येऽन्ते चाश्रयाः स्फुटाः। ते च विस्मयधृतिप्रभृतीत्यास्तामेतत्।

इति वैशिकशास्त्रकारैश्च दशावस्थोऽभिहितः ताश्च सामान्याभिनये वक्ष्यामः।

करुणस्तु शापक्लेशविनिपतितेष्टजनविभवनाशवधबन्धसमुत्थो निरपेक्षभावः। औत्सुक्यचिन्तासमुत्थः सापेक्षभावो विप्रलम्भकृतः।

वाक्यैकवाक्यत्वेनावस्थाद्वयस्तूतस्य शृङ्गारस्य यत्स्वरूपमुक्तमेतदेव परिशोधयितुं पूर्वपक्षयति—अत्राहेति। करुणविषये आश्रयणं विद्यते येषां भूम्ना। अत एव कर्मधारयमत्वर्षीयाभ्यामितीह नाश्रितम्। भूम्ना वहति ह्यत्र (वहतीत्यत्र) पूर्वपक्षस्य प्राणितम्।

ननु त्वयोक्तमसदेवास्त्वित्याशङ्क्याह—वैशिकेत्यादि। वेशो वेश्यावर्गः। करणं च सम्भोगात्मकम्। तत्प्रयोजनं शास्त्रं कामसूत्रं ये कृतवन्तस्तैः। शृङ्गारो दशभिरभिलषितादिभिर्मरणान्ताभिरवस्थाभिर्युक्तो दर्शितः। अवस्थाग्रहणेन च तावन्तो बहवो विप्रलम्भा इत्याशङ्कां निराकरोति। तेन चिन्तादयोऽपि व्यभिचारित्वेन रतेस्तैरनुभावा इति तात्पर्यम्। चकारेणेदमाह—परस्परास्थाबन्धात्मकत्वे रतिरूपे स्थिते सति तदङ्गमूता दशावस्था विप्रलम्भाङ्गम्। यथोदयनस्य चित्रफलकावलोकनतः प्रभृति।

ननु तत्रापि रतिः क्व? अस्य विषयस्यानवगमात्। न हि चित्रमात्रम्। नलिनीसंस्तरादेः साक्षिणो विद्यमानत्वात्। आकृत्या च काम्यमानतौचित्यस्य लाभात्। यदि परं नाम तज्ज्ञास्तत्कुत्रोपयोगीति। यदा तु विप्रलम्भाङ्गता न भवति तदा स्वतन्त्र्यं—यथा रावणस्यापि। तदुक्तमस्मदुपाध्यायभट्टतौतेन—

'स्वातन्त्र्येण प्रवृत्तौ तु सर्वप्राणिषु सम्भवः'। इति।

एवमन्यः करुणोऽन्यश्च विप्रलम्भ इति। एवमेष सर्वभावसंयुक्तः शृङ्गारो भवति

नन्ववेवं व्यभिचार्यभेदात्करुणः कथं विप्रलम्भाद्भिद्यत इत्याशङ्क्याह— करुणस्त्विति। अधमप्रकृतेस्तावन्न विप्रलम्भः। स्थाय्यभावात्। तदभावो विभावसामग्रीवैकल्यादिति। तत्र तावत्करुणः पृथक् लब्धप्रतिष्ठः एवमुत्तमप्रकृतावपि रतिविपरीतः शोकः करुणे स्थायी। अत एवाह निरपेक्षः। बन्धुजनादिविषये याऽपेक्षा रताविवालम्बनम्।

यथोक्तम्—"आशाबन्धः कुसुमसदृशः प्रायशो ह्यङ्गनानाम्" इति (मेघ० १-१०)। ततो निष्क्रान्तो भावः शोकाख्यो यस्मिन्। शापक्लेशे विनिपतितस्येष्टजनस्य यो विभवनाशो वधबन्धो वा ततः समुत्थानं यस्य। शापग्रहणेनाप्रतिकार्यत्वे सत्युत्तमप्रकृतेः शोकोदयस्थानमेतदिति दर्शयति। अन्यथोत्साहक्रोधादिविभावत्वं स्यात्। शोकत्वमेव च पराकर्तु कविकुलचक्रवर्त्तिना पुरूरवस उर्वशीशापप्राप्तिरनुपलक्षिततत्त्वेन निबद्धा। एवं विभावस्थायिविभेदो दर्शितः। येऽपि चैते निर्वेदाद्यास्तेऽपि वस्तुतो रत्यननुगृहीता निरपेक्षाच्छोकाद्भवन्त्यन्य एव। ततोऽप्याह निरपेक्षभाव इति।

एवं प्रसङ्गात्करुणस्य स्वरूपमभिधाय प्रकृते योजयति— औत्सुक्यचिन्तेति। चिन्ताशब्दोऽशेषनिर्वेदाद्युपलक्षणम्। औत्सुक्यप्रधाना ये चिन्तादयस्तेभ्यः सम्युगुत्थानं विजृम्भो यस्य। अत एव सापेक्षो यत्र रत्याख्यो भावः। ते च सापेक्षाद्रत्याख्याद्भवन्ति। न हि विप्रलम्भे विभावः स्थायी च सम्भोगाद्भिद्यते। एक एवासाविति हि बहुश उक्तम्।

एतदुक्तं भवति। औत्सुक्यं विषयौन्मुख्यम्। तच्च नष्टे विषये न सम्भवति। एवं परीक्ष्य परीक्षाफलमुपसंहरति—एवमेष इति। शृंङ्गार इत्येकवचनेनैक एव शृङ्गार इत्युपसंहृतम्।

अपि च

सुखप्रायेष्टसम्पन्न ऋतुमाल्यादिसेवकः।
पुरुषः प्रमदायुक्तः शृङ्गार इति संज्ञितः॥ ४७॥

एवं सूत्रार्थे परीक्ष्य स्थापिते तदर्थस्य सुखग्रहणार्थं सूत्रार्थविवरणरूपत्वात्सूत्रसमीपेऽप्युपचितपाठात्कारिकामधुना पठति—अपि चेति। न केवलं सूत्रं परीक्षाऽपि यावदियं कारिकेति समुच्चयार्थः। एवं सर्वत्र मन्तव्यम्।

तामेव कारिकां पठति—सुखेति। पुरुष इति भोक्ता संवेदनात्मकोऽभिप्रेतः। भोक्तैव च स्थायिसंविद्रूपः। व्यभिचारिणस्तु भोगस्वभावाः। तेन रतिरेव पुरुषः। तथा चोक्तम्—'श्रद्धामयोऽयं पुरुषः' इति। एवं प्रमदाऽपि।

तत्र भोक्तृत्वे पुरुषस्य प्राधान्यम्। प्रमदायास्तु भोग्यत्वम्। प्रधान्यादेव च तस्य भोग्येनापरतन्त्रीकरणमिति नायिकान्तरयोगेऽपि न शृङ्गारहानिः। भोगयस्य तु पारतन्त्र्यादेवान्यसम्मीलने शृङ्गारभङ्ग इति दर्शितम्। अत एव न स्थायिभेदः शङ्कनीयः। सुखप्रायेष्टसम्पन्न इत्यादिपुरुष- विशेषणत्वेन समुदितस्य विभावत्वं दर्शयति। विभावादयो रसोदयेना- ऽऽस्वादैश्च भोक्तरीति निमग्नत्वे भोक्तृप्रधानत्वं च दर्शयन्ति विषयसम्भा- रपूर्णताभिमानजैव रतिरुचिता।

एतदर्थमेव 'जंस अहं तादेण दिण्णेति' 'ईरिसव्स कव्णपूरदंसणव्स' इति च। एतत्सर्वसम्पन्नत्वमेव नायिकायाः प्रदर्शितम्। अन्यथा नोत्तमत्वं स्यात्। निजजातिकुलानुरूपसम्पदभावे तु रतिः पुरुषार्थरूपत्वाभावादनुपदेश्या। अत एव तत्र सर्वस्य प्रतीतिवैरस्यानन्तरसंभावनमिति श्लोकस्य तात्पर्यार्थः।

विषयसामग्रीसम्पूर्णो रस इति ये मन्यन्ते तेषां भ्रान्तिकारणमयं श्लोकः। स चेत्थं व्याख्यातो न भ्रान्तिजनकः। संज्ञित इत्यनेनान्वर्थतां पराकरोति। तथा हि—उणादिषु शृङ्गारशब्दो निपातित इति।

न केवलं श्लोकवृत्तमिदं सूत्रार्थानुविद्धे यावदार्ये अपीत्यपि चेत्यस्य भिन्नक्रमस्यार्थः। प्रिय जनो विदूषकादिः। गान्धर्वशब्दो गीतादिहृद्यविषयो- पलक्षणम्। काव्यसेवाशब्देन विषयसङ्कल्पं विभावत्वेन लक्षयति।

अपि चात्र सूत्रार्थानुविद्धे आर्ये भवतः।

ऋतुमाल्यालङ्कारैः प्रियजनगान्धर्वकाव्यसेवाभिः।
उपवनगमनविहारैः शृङ्गाररसः समुद्भवति॥ ४७॥
नयनवदनप्रसादैः स्मितमधुरवचोधृतिप्रमोदैश्च।
मधुरैश्चाङ्गविहारैस्तस्याभिनयः प्रयोक्तव्यः॥ ४८॥

यस्त्वाह काव्यार्थीभूताद्रसात्काव्यार्थविदो भावान्तरं प्रादुर्भवति। अतः सुखजनकत्वात्काव्यार्थो रस इति। स प्रत्युक्तः। न हि विषयसामग्री रस इति परमार्थतः शृङ्गार इत्यभिप्रायेणादाववस्थोपलक्षणद्वारेण सर्व एवोपसंहृतो मन्तव्यः॥

इति शृङ्गाररसप्रकरणम्॥

अथ हास्यरसप्रकरण्॥

अथ हास्यो नाम हासस्थायिभावात्मकः। स च विकृतपर वेषालङ्कारधाष्ट्र्यलौल्यकुहकासत्प्रलापव्यङ्गादर्शनदोषोदाहरणादिभिर्विभा

वैरुत्पद्यते। तस्यौष्ठनासाकपोलस्पन्दनदृष्टिव्याकोशाकुञ्चनस्वेदास्यरागपार्श्वग्रहणादिभिरनुबावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः। व्यभिचारिणश्चास्यावहित्थालस्यतन्द्रानिद्रास्वप्नप्रबोधासूयादयः। द्विविधश्चायमात्मस्थः परस्थश्च। यदा स्वयं हसति तदाऽऽत्मस्थः। यदा तु परं हासयति तदा परस्थः।

अथ हास्यं लक्षयितुमाह—अथेति। आत्मशब्देनेदमाह—रतिरास्वादनाख्यां प्रतीतिं विदधाना न तां रतिरूपामेव विधत्ते। प्रमुखे विभावादौ साधारण्यात्। हासे तु य आस्वादः सोऽपि विकृतवेषादीनां सामाजिकान्प्रति लोकवृत्तेन हासहेतुतेति विभावसाधारण्यद्वारेण तदेकस्वभाव एवेति हासात्मकरसनाख्यचर्वणाचर्वणीयत्वाच्चास्य। रतिशोकावेव परमतज्जातीयसंविदास्वादो धारारूढसुखदुःखरूपत्वेन निस्साधारणात्मीयत्वनियमग्रहगृहीतहेतुबलादेवोत्पद्येते यतः अतोऽनयोर्मुनिना प्रभवग्रहणं कृतम्। अन्येषु तु विभावे साधारण्यसम्भावनात्तदात्मकग्रहणम्। नयविनयादेरन्यायकारिणः समानं कालादेरपूर्ववस्तुनश्च सर्वान्प्रत्युत्साहक्रोधभयजुगुप्सा विस्मय हेतुत्वेन साधारण्यविभावत्वादित्यलं बहुना।

तत्र वेशः केशादिरचना। अलङ्कारः कटकादिः। स चोभयोऽपि विकृतो देशकालप्रकृतिवयोऽवस्थाविपरीतो हास्यस्य विभावः। एतेन सर्वे रसा हास्येऽन्तर्भूता इति दर्शितम्। अथ विदूषकोऽपि तद्वेषं विदधद्धास्याभासं प्रथयतीति। एतच्च प्रागेवोक्तम्। परस्य सम्बन्धी परः। एवंभूतो देवदत्तस्य वेषोऽयमलङ्कारो वा इत्युद्धट्टक (ना०शा० ४-१८७) भाण्डनृत्तादौ दर्श्यमानो हासं करोति। वेषालङ्कारौ गतागतिकादेरप्युपलक्षणम्। धार्ष्ट्यं निर्लज्जता। लौल्यं विषयेष्वनियतता। कुहकं कक्षग्रीवादिस्पर्शनं विस्मापनविधिप्रसिद्धं बालानाम्। अङ्गविगमो विखनादि व्यङ्गम्। एषां दर्शनमिति समासः। दोषा अतत्प्रकृतेरपि भयादयः, अकार्यकरणादयश्च विकृतवेषादय एव वा। तेषामुदाहरणं वर्णनम्। आदिग्रहणात्सङ्कल्पस्मृत्यादि।

ओष्ठादेः स्पन्दनशब्देन सम्बन्धः। व्याकोशनं विकासो निमीलनं च। आकुञ्चनं त्वीषत्। एतद्दृष्ट्या योज्यम्। आस्यरागो मुखरागः। पार्श्वयोर्ग्रहणं पीडनम्। तन्द्राशब्देन मोहः। एते च विभावा अनुभावा व्यभिचारिणश्च प्रकृतित्रयभेदेन ये स्मितादिभेदा वक्ष्यन्ते तेषु यथायोगं योजनीयाः।

द्विविधश्चायमिति। आत्मस्थैर्विभावैर्विकृतवेषादिभिर्विदूषकः स्वयं हसति स तस्यात्मस्थः। देवीं च हासयतीति तस्याः परस्थः। तदिदमसत्। एवं

अत्रानुवंश्ये आर्ये भवतः।

विपरीतालङ्कारैर्विकृताचाराभिधानवेषैश्च।
विकृतैरर्थविशेषैर्हसतीति रसः स्मृतो हास्यः॥ ४९॥
विकृताचारैर्वाक्यैरङ्गविकारैश्च विकृतवेषैश्च।
हासयति जनं यस्मात्तस्माज्ज्ञेयो रसो हास्यः॥ ५०॥
स्त्रीनीचप्रकृतावेष भूयिष्ठं दृश्यते रसः।
षड्भेदाश्चास्य विज्ञेयास्तांश्च वक्ष्याम्यहं पुनः॥ ५१॥
स्मितमथ हसितं विहसितमुपहसितं चापहसितमतिहसितम्।
द्वौ द्वौ भेदौ स्यातामुत्तममध्याधमप्रकृतौ॥ ५२॥

तत्र

स्मितहसिते ज्येष्ठानां मध्यानां विहसितोपहसिते च।
अधमानामपहसितं ह्यतिहसितं चापि विज्ञेयम्॥ ५३॥

हि विभावानामात्मस्थत्वविभागः स्यात्। न हासस्य। किञ्च स्वामिनः शोकोऽनुजीविषु शोकं करोतीति परस्थता सर्वत्र स्यात्। स्वयंभूर्हि परत्र देव्यादौ व्यक्तः परस्थ इति चेद् गम्भीरस्य प्रभोरनुजीविगतोऽनुभावव्यक्तक्रोधोऽपि परस्थो भवेत्। तद्विभाव आत्मस्थोऽतोन्यविभावकस्त्वन्यस्थ इत्यप्यसत्। परहासोऽपि तद्धासे विभावः स्यात्। एतच्च रत्यादिषु सर्वेष्वप्यस्ति। तस्मादयमत्रार्थः—परं हसन्तं दृष्ट्वा स्वयं विभावानपश्यन्नपि हसन् लोके दृष्टः। तथा विभावादिदर्शनेऽपि। गाम्भीर्यादनुदितहासोऽपि परकीयहासावलोकने तत्क्षणं हासविशेषः सम्पद्यत एवेति स्वभावः। यथाऽम्लदाडिमादिरसास्वादः सङ्क्रमणस्वभावोऽन्यत्रापि दन्तोदकविकारानुरूपसङ्क्रमदर्शनादेव सङ्क्रामति। एवं हासः स्वभावतः सङ्क्रमशील इति काष्ठ (काऽस्य) भूयिष्ठता। नानाभेदा इत्याह—षड्भेदाश्चेति। द्वौ द्वाविति। यथाक्रमं विभावतारत्म्यमित्यादीति केचित्। तत्त्वसत्। भेदान्तराणामपि प्रसङ्गात्। तस्मात्सङ्क्रमणाभिप्रायेणैतत्। स्मितं हि यदुत्तमप्रकृतो तत्सङ्क्रान्तं हसितं सम्पद्यते। अत एव त्र्यवस्थो हास इति वक्ष्यते। षडवस्थो ह्यन्यथा स्यात्।

स्मितञ्चेयत्तायाम्। हसितं ततो विशेषेण। ततोऽपि परस्य गतं समीपगतमन्यत्। अपहसितमतिशयेन चेत्युपसर्गभेदादर्थभेदः। (५३)

अत्र श्लोका—

ईषद्विकसितैर्गण्डैः कटाक्षैः सौष्ठवान्वितैः।
अलक्षिततद्विजं धीरमुत्तमानां स्मितं भवेत्॥ ५४॥

उत्फुल्लानननेत्रं तु गण्डैर्विकसितैरथ।
किञ्चिल्लक्षितदन्तं च हसितं तद्विधीयते॥ ५५॥

अथ मध्यमानाम्—

आकुञ्चिताक्षिगण्डं यत्सस्वनं मधुरं तथा।
कालागतं सास्यरागं तद्वै विहसितं भवेत्॥ ५६॥
उत्फुल्लनासिकं यत्तु जिह्मदृष्टिनिरीक्षितम्।
निकुञ्चिताङ्गकशिरस्तच्चोपहसितं भवेत्।॥ ५७॥

सौष्ठयमनुल्वणता। द्विजा दन्ताः। धीरमिति मन्थरं कृत्वा ईषत्त्वनिर्वाहः। विकसितैरिति। अथेति। स्मितानन्तरं संक्रमणकाल इत्यर्थः। तदिति। स्मितमेव संक्रान्तं सदेवरूपतामेतीत्यर्थः।

अथाधमानाम्—

अस्थानहसितं यत्तु साश्रुनेत्रं तथैव च।
उत्कम्पितांसकशिरस्तच्चापहसितं भवेत्॥ ५८॥
संरब्धसाश्रुनेत्रं च विकृष्टस्वरमुद्धतम्।
करोपगूढपार्श्वं च तच्चातिहसितं भवेत्॥ ५९॥
हास्यस्थानानि यानि स्युः कार्योत्पन्नानि नाटके।
उत्तमाधममध्यानामेवं तानि प्रयोजयेत्॥ ६०॥
इत्येष स्वसमुत्थस्तथा परसमुत्थश्च विज्ञेयः।
द्विविधस्त्रिप्रकृतिगतस्त्र्यवस्थभावो रसो हास्यः॥ ६१॥

जिह्माख्याया भाविन्या दृष्ट्या निरीक्षणं यत्र काल उचितं तेन संस्थानादौ (५७)

अस्थान इत्यकाले शोकाद्यवसरे। विकृष्टं श्रवणकटु। नाटक इति। नाटकशब्दो पूरकमात्रवृत्तिः। स्वसमुत्थ इत्यसंक्रान्तस्मितविहसितापहसित-लक्षणः। परसमुत्थः संक्रान्तो हसितोपहसितातिहसितरूपः। हसितादिरूप-संक्रमणयोत्कृष्टप्रकृतौ स्मितादिरूपम्। रतिक्रोधशोकादेस्तु न संक्रमणं भवतीत्युक्तमेव। तत्र हि युगपदेव वा स एव विभावस्तच्चित्तवृत्तिमान्वा पुरुषो विभावतामेति। न तु त एव विभावास्तस्य चित्तवृतिं प्रस्तूय संक्रमयन्त्यन्यत्र प्रस्तुवतः हासमिव। सर्वेषामात्मस्थपरस्थभेदोपलक्षणमेतदित्यन्ये। एतच्चासत्। अननुभवसिद्धमेव हीदं हासः संक्रामतीति।

अन्यस्त्वाह—तिसृपु प्रकृतिषु त्र्यवस्थो विभावतारतम्याद् द्विरूपः। पुनरात्मपरस्थत्वेन द्विधेति द्वादशभेदोऽयमिति कारिकातात्पर्यमिति। अत्र च पृथग्विभावनमपि भवति। तत्त्वतिप्रसङ्गावहं तन्मतमिति नोदाहृतम्। (६१)

इति हास्यरसप्रकरणम्॥

अथ करुणरसप्रकरणम्॥

अथ करुणो नाम शोकस्थायिभावप्रभवः। स च शापक्लेशविनिपतितेष्टजनविप्रयोगविभवनाशवधविद्रवोपघातव्यसनसंयोगादिभिर्विभावैः समुपजायते। तस्याश्रुपातपरिदेवनमुखशोषणबैवर्ण्य स्रस्तगात्रतानिश्श्वासस्मृतिलोपादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः। व्यभिचारिणश्चास्य निर्वेदग्लानिचिन्तौत्सुक्यावेगभ्रममोहश्रमभयविषाददैन्यव्याधिजडतोन्मादापस्मारत्रासालस्यमरणस्तम्भवेपथुवैवर्ण्याश्रुस्वरभेदादयः।

इदानीमवसरायातं करुणं लक्षयति—अथ करुणो नामेति। अथेति क्रमे। तत्र चायं क्रमः—सम्भोगेन हास्योऽङ्गत्वेनापेक्षितः। विप्रलम्भेन च समानव्यभिचारिकत्वात्करुण इति टीकाकारः।

एतच्च पूर्वापरविरुद्धम्। अस्माभिस्तूद्देशविभाग एव क्रमो दर्शितः तस्याभिनयः प्रयोज्यो यस्यास्वाद्यमानस्य करुण इति व्यपदेशः। सदयहृदयता हि करुणा लोके प्रसिद्धा। सा च लिङ्गैरनुकर्तरि शोकं प्रतियतां सामाजिकानामिति करुणव्यपदेश इति श्रीशङ्कुकः।

एतच्च पूर्वापरविस्मरणविजृम्भितमस्य। यतः शोकं प्रतिकृतिस्तस्य करुणा। दया च नाम परित्राणेच्छा। सा कथं शोकानुकरणम्। किं प्रति च तेषां दयेति न विद्मः।

तस्मात् करुण इति शोकः। सर्वसाधारणत्वेन प्राग्युक्त्या आस्वाद्यमानस्य। तदर्थमेव नामशब्दः। तत्प्रभवत्वं शृंङ्गारवद्व्याख्येयम्। अशक्य प्रतीकार हेतूपलक्षणं शापग्रहणम्। शापक्लेशे पतितस्येष्टजनस्य ये विप्रयोगादयः। तत्र विप्रयोगोऽयं सङ्गमः (योगोऽसङ्गमः)। विभवनाशादि प्रसिद्धम्। विद्रवो देशादुच्चाटनम्। तच्च विप्रयोगेऽपीति विशेषः। उपघातोऽग्न्यादिभिर्मारणम्। अग्न्यादिकृतो विद्रवः चौरादिकृत उत्पात इति त्वसत्। विभवनाशेन गतत्वात्। व्यसनेन मृगयाऽक्षादिनाऽनर्थजनकेन संयोगः। विभवनाशादयोऽपि स्वात्मगता नोत्तमप्रकृतेः शोकं कुर्युः। मध्यमाधमप्रकृतीनां तु कुर्युरेवेत्यादिग्रहणम्। परिदेवनमात्मनो दैवस्य चान्यस्योपालम्भः निश्वासशब्देन तदनन्तरभावी उच्छ्वासोऽप्यूर्ध्वश्वसनरूपो लक्ष्यते। स्मृतिलोपेन स्तम्भप्रलयौ लक्ष्येते। वैवर्ण्याश्रुस्वरभेदः-अत्र बहिरुद्भिन्नस्वभावाश्चित्तवृत्त्यात्मानो गृह्यन्ते। तथाहि वक्तारो भवन्ति 'अश्रुणापूर्णोऽस्य कण्ठो न च नयनजलं दृष्टम्' इति। एते ह्यश्रुप्रभृतयो

व्यभिचारित्वाभिनेयत्वोपजीवनायैव मध्ये निर्दिष्टा इत्यवोचाम वक्ष्यामश्च। तेन पौनरुत्तयम्। एवमन्यत्रापि। व्याधेरुन्मादापस्मारौ भेदेन वक्ष्यामः।

अत्रार्ये भवतः—

इष्टवध दर्शनाद्वा विप्रियवचनस्य संश्रवाद्वापि।
एभिर्भावविशेषैः करुणरसो नाम संभवति॥ ६२॥
सस्वनरुदितैर्मोहागमैश्च परिदेवितैर्विलपितैश्च।
अभिनेयः करुणरसो देहायासाभिघातैश्च॥ ६३॥

वपशब्दो बन्धादेरुधलक्षणम्। विप्रियमिष्टजनवधादि येन वाक्येनोच्यते तस्य श्रवणात्। तेन चेष्टजनस्य विभवनाशादि दृश्यमानं श्रूयमाणं वा कविभिः करुणविभावत्वेनोपनिबन्धनीयमिति तात्पर्यम्। एभिरित्येवं प्रकारैः। भावशब्दोऽत्रार्यायां विभावववाची। अनुभावांस्तद् द्वारेण च व्यभिचारिणोऽप्युपलक्षयितुं आर्यान्तरं सस्वनेत्यादि। बहुवचनं प्रकृति देशकाल दशाहेत्वादिभेदेनानेनकप्रकारत्वज्ञापनार्थम्। मोहो जडता तेनान्ये व्यभिचारिण उपलक्ष्यन्ते। देहस्यायासनं पातनवेष्टनादि। अभिघात उरस्ताडनादि। एते चानुभावाः प्रकृतिभेदेन यथायोगं विभजनीयाः। करुणो रौद्रादित्युक्तम्। स(की ही)दृग्रौद्र इति कर्म केचिदाहुः॥ ६३॥

इति करुणरसप्रकरणम्॥

अथ रौद्ररसप्रकरण्॥

अथ रौद्रो नाम क्रोधस्थायिभावात्मको रक्षोदानवोद्धतमनुष्यप्रकृतिः सङ्ग्राम हेतुकः। स च क्रोधाघर्षणाधिक्षेपानृतवचनोपघात-वाक्पारुष्याभि द्रोहमात्सर्यादिभिर्विभावैरुत्पद्यते। तस्य च ताडनपाटनपीडनच्छेदनभेदन प्रहरणशस्त्रसम्पातसम्प्रहाररुधि—राकर्षणाद्यानि कर्माणि। पुनश्च रक्तनयनभ्रुकुटीकरण दन्तोष्ठपीडन-गण्डस्फुरणहस्ताग्रनिष्पेषादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः।

अथ रौद्ररसं लक्षयति—अथ रौद्रो नामेति। आत्मग्रहणस्यायमाशयः। अन्यायकारिता प्राधान्येन क्रोधस्य विषयः। तादृशि च जने सर्वो(र्वे)ऽपि मनोरथैरपि रुधिरपानमपिनामाद्रियन्ते। तथा चाह लोकः—तादृशो यदि लभ्यते तदीयं रुधिरमपि पीत्वा न तृप्यते। महाकविना भासेनापि स्वप्रबन्ध उक्तः—

"त्रेतायुगं तद्धि न मैथिली सा
रामस्य रामपदवी मृदु चास्य चेतः।

लब्ध्वा जनस्तु यदि रावणमस्य कायं
प्रोत्कृत्य तन्न तिलशो न वितृप्तिगामी॥'' इति

तेन हास्यवत्साधारणविभावत्वाच्चर्वणापि तद्रसनाचरणौ (शरणो) रौद्रः क्रोधात्मक एव। उद्रिक्तं हन्तृत्वं येषां त उद्धताः। तद्वेषधारिणो ये नटास्ते। प्रकृतिश्चर्वणोदयहेतुरस्य। अत्र व्याचक्षते—युद्धहेतुक उद्धत मनुष्येषु भीमसेनादिषु रुधिरपानादिलक्षणः। रक्षोदानवास्तु स्वभावरौद्रा इति। तदसत्। भीमस्य रुधिरपानं न युद्धहेतुकम्। अपितु विपर्ययेण। उद्धतस्वभावत्वादेव ह्यसौ क्रोधपरवशः सन्ननुचितमपि प्रतिज्ञातवान्। तन्निर्वाहायैव च राक्षसाधिष्ठानमस्य कविना वेणीसंहारे वर्णितम्। तस्मात्सर्व एवैते स्वभावात् क्रोधनाः। तदनुसारिणि नटे रौद्र आस्वाद्यत इति मनुष्यप्रकृतिः। सङ्ग्रामहेतुक इति चायमर्थः—युद्धस्य कविनटप्रदर्श्यमान (स्य) हेतुकः कुत्सितहेतुधी (ति) रोहितः। तस्योचितो हेतुर्न क्रोधः। तथा च प्राधान्येन युद्धेन वीर एव व्यपदेक्ष्यते।

नन्वेते स्वभावक्रोधना अपि किमुद्दीपनमपेक्षन्ते। ओमित्याह—स चेति। क्रोधादि परकर्तृकम्। आघर्षणं दारादि बलीकरणम्। अधिक्षेपो देशजात्यमिजनविद्याकर्मनिन्दा। अनृतस्य कस्याप्यपसत्यस्य वचनम्। उपघातो गृहभृत्याद्युपमर्दनम्। वाक्पारुष्यं वधाद्युपन्यासेन तर्जनम्। अभिद्रोहो जिघांसा। मात्सर्यं गुणेष्वसूया। आदिग्रहणाद्राज्यापहरणादि। एतैरुत्पद्यते कविना विभावत्वेन वर्ण्यमानैः।

अस्य ताडनादीनि कर्माणि रक्तनयनादयोऽनुभावा इति पृथङ्निरूपणं तुल्येऽप्यनुभावत्वे विशेषख्यापनार्थम्। विशेषस्तु पूर्वेषां वचनमात्रेण व्यावर्णनम्। रङ्गे प्रत्यक्षतोऽप्रदर्शनीयत्यात्। यद्वक्ष्यते—

'युद्धं राज्यभ्रंशो मरणं नगरोपरोघनं चैव।
अत्रत्यक्षकृतानि प्रवेशकैः संविधेयानि॥' इति॥ (ना०शा० १८-३८)

रक्तनयनादि रङ्गे प्रत्यक्षेण कृतम्।

प्रहरणाहरणं तु पूर्वत्र प्रमादपठितमिति केचित्। इदं तु पृथगमिधाने तुच्छं प्रयोजनम्। अयं चात्राशयः—रक्षोदानवोद्धतमनुष्या उद्दीपनहेतुभिर्विनाऽपि चेष्टितमात्रं यदपि कुर्वते नर्मगोष्ठ्याद्यपि च तत्र ताडनादि प्रधानम्। तद्वक्ष्यति—'यच्च किञ्चिदारभन्ते' इति। उद्दीपनसम्भवे ताडनादिग्रस्त एव रक्तनयनाद्यधिकीभवति। अत एव पुनश्शब्दः। तत्र ताडनं तलाद्यभिघातः। पाटनं द्विधाकरणम्। पीडनं मर्दनम्। (छेदनं) कर्तनम्। भेदनं परस्परमित्या (रमैत्र्या) दिवियोजनम्। भावे ण्यदन्तो। प्रहरणानामासमन्ताद्धरणम्। शस्त्रस्य

सम्पातनमविदारयतोऽपि। सम्प्रहरणं विदारयतः पातनम्। तेन रुधिरस्याकर्षणम्। रक्षःप्रभृतयो हि नर्मणाऽपि प्रहरन्ति। किन्तु रुधिरागमनमात्रफलं न त्वधिकम्। रक्ते च ते नयने। भ्रुवोर्मूलसमुत्क्षेपो भ्रुकुटी। दन्तोष्ठस्य यथायोगं पीडनम्। हस्ताग्रयोरन्योन्यनिष्पेषः सङ्घर्षणम्।

भावाश्चास्यासम्मोहोत्साहावेगामर्षचपलतौग्र्यगर्व स्वेदवेपथुरोमाञ्चगद्गदादयः।

अत्राह—यदभिहितं रक्षोदानवादीनां रौद्रो रसः। किमन्येषां नास्ति। उच्यते—अस्त्यन्येषामपि रौद्रो रसः। किन्त्वधिकारोऽत्र गृह्यते। ते हि स्वभावत एव रौद्राः। कस्मात्। बहुबाहवो बहुमुखाः।

भावा इति व्यभिचारिणः। असंमोहः सम्मोहविपरीतः। विरोधे न। तत्रावृत्तिसङ्गृहीतः सम्यग्बोधः। उत्साहोऽत्र व्यभिचारी। क्रोधस्य प्राधान्येन रसनीयत्वात्। स्वेदादयो बाह्याः। आभ्यन्तरा सात्त्विका (क) भावेऽपि विषस्पर्शज्वरादिना भवन्ति। ततो ऽनैकान्तिकाः। आन्तरा अनुद्रिक्ता व्यजनग्रहणादिभिरुद्रिक्ताः। बाह्यैः स्वेदादिभिर्व्यक्तः व्यभिचारिरुपाः पठिताः।

एष्वेव रौद्ररस इत्यभिप्रायं गृहीत्वा चोदक आह—यदभिहितमिति। सिद्धान्ती त्वेपु रौद्रो भवत्येवेत्यभिप्रायेणाह—अस्त्यन्येषामिति। अन्येषां कविनटाभ्यां प्रयुज्यमानानां सम्बधिजन्यत्वेन। अधिकारोऽनुवृत्तिः। अत्रेति—राक्षसादिषु। एतदेव व्यनक्ति—ते हीति। स्वभावशब्दानन्तरमेवकारेण भवन्त्येवेत्ययोगव्यवच्छेद एव सूचितः। स्वयं तेषां भवनं तत इत्यर्थः। तेनाङ्गरौद्रोपन्यासोऽप्यविरुद्धः। अन्यथा स्वभावरौद्र एवं रक्ताक्षादिभिरभिधेयः स्यात्। न बहुबाहुमुखादि। तत्र राक्षसादयोऽपि न परिजने सदा क्रुद्धा इति प्रतीयन्त इत्याशयेनाहु—कस्मादिति।

प्रोद्धूतविकीर्णपिङ्गलशिरोजाः रक्तोद्वृत्तविलोचना भीमासितरूपिणश्चैव। यच्च किञ्चित्समारभन्ते स्वभावचेष्टितं वागङ्गादिकं तत्सर्वं रौद्रमेवैषाम्। शृङ्गारश्च तैः प्रायशः प्रसभं सेव्यते। तेषां चानुकारिणो ये पुरुषास्तेषामपि सङ्ग्रामसम्प्रहारकृतो रौद्रो रसोऽनुमन्तव्यः।

अत्रोत्तरं बहुबाहव इति लोकप्रसिद्धाकारविपरीतो हि तेषामाकारः। तत्र च परविनाशनाभिसन्धिजनितं तपश्चर्यादिकं दृष्टं वा कर्म तेषां व्याप्रियते। अतस्तादृशेषु दृष्टेषु स एव क्रोधात्मकोऽभिसन्धिर्गम्यत इति सामाजिकानान्तु दृश्यते रौद्रास्वादः। तेन च रागादिव यत्क्रोधकाले दृष्टं तत् सदैव तेषामुद्वृत्त तारकयोः रक्तविलोचनम्। अत एव भीममसितं कृष्णं सदैव रूपं येषाम्। नित्ययोग इनिः। अत एव बहुवचनबहुव्रीहिरत्र न कृतः।

न केवलं कायस्तदीय इत्थं यावच्चेष्टितमपि तदीयं दृश्यमानं रौद्रास्वादजनकमेवेति दर्शयति—यच्चेति। स्वभावेति। चित्तस्याविकारेऽपि यच्चेष्टितं वाचिकं कायिकं वा तदेषां ताडनादिप्रधानमिति दृश्यमानं काव्ये प्रयोगे रौद्रास्वादहेतुः। वागङ्गे आदिकारणे यस्य। मानसं तु चेष्टितमप्रत्यक्ष-त्वान्नोक्तम्।

सर्वमिति यदुक्तं तत्स्फुटयति—शृङ्गारश्चेति। शृङ्गारशब्देनात्र तद्विभावः प्रमदोद्यानादिः। सोऽपि तैः प्रसभमिति क्रूराकारतया सेव्यते। यत्रौग्र्यस्य वर्जनमुक्तं किं पुनरन्यदिति चशब्दस्यार्थः। तथा 'आः सीते पतिगर्वविभ्रमभरभ्रान्तभ्रमद्वान्धव०' इत्याद्युदाहरणम्। तथा नानात्वादेव 'गाढाम्रेडं मलयमरुतः शृङ्खलादाम दत्त' (बाल० रामा० ५-५१) इति रौद्ररसत्वेन। कदाचिदनुनयेनापीति दर्शयति—प्रायश इति।

अत्रानुवंश्ये आर्ये भवतः—

युद्धप्रहारघातनविकृतच्छेदनविदारणैश्चैव।
सङ्ग्रामसम्भ्रमाद्यैरेभिः सञ्जायते रौद्रः॥ ६४॥
नानाप्रहरणमोक्षैः शिरःकबन्धभुजकर्तनैश्चैव।
एभिश्चार्थविशेषैरस्याभिनयः प्रयोक्तव्यः॥ ६५॥
इति रौद्ररसो दृष्टो रौद्रवागङ्गचेष्टितः।
शस्त्रप्रहारभूयिष्ठ उग्रकर्मक्रियात्मकः॥ ६६॥

ननूद्धतमनुष्येषु तर्हि कथं रौद्रादिविकारः। न हि ते बहुबाहुत्वादियुक्ता इत्याशङ्क्याह—तेषां चेति। राक्षसादीनाम्। अनुकारिण इति। तामसप्रकृतितया तत्सदृशा अनुगामित्वेन मन्तव्या इत्यर्थः। कथमित्याह—सङ्ग्रामसम्प्र-हारग्रहणेन पूर्वोक्तं ताडनपाटनादि गृह्यते। तेन बहुबाहुत्त्वाद्यभावेऽप्युद्धतमनुष्या वागङ्गचेष्टितेन क्रोधोचितेन रौद्रप्रकृतय इति लक्ष्यन्ते। एवं रक्षोदानवेत्यादा-वयोगव्यवच्छेदो निश्चितः। अन्येऽपि तु वीरप्रधाना अश्वत्थामजाम-दग्न्यादयः। तेषु कारणमहिम्ना भवत्येव क्रोधो रौद्रास्वादयोग्यः। राक्षसादीनामपि च हासशोकादिः स्वकारणोदितोऽभिभूतक्रोधः। हास्यकरुणादेश्चेह योगो भवत्येव। तेनैषां न रौद्र एव रसः। ननु सामाजिकानां तथाभूतराक्षसादिदर्शने कथं क्रोधात्मक आस्वादः। उच्यते—हृदयसंवाद आस्वादः। क्रोधे च हृदयसंवादस्तामसप्रकृतीनामेव सामाजिकानामिति दानवादिसदृशास्तन्मयीभूता एवान्यायकारिविषयं क्रोधमास्वादयन्तीति न किञ्चिदवद्यम्।

विकृतं यच्छेदनं व्यङ्गादिकरणं युद्धादीति परेण क्रियमाणौचित्यम्। तेन युद्धाद्यनुमितस्य परक्रोधादेर्विभावत्वमुक्तम्। सङ्ग्रामाय सम्भ्रमः शस्त्राहरणे त्वरा।

अनुभावानाह—नानेति। मारणप्राधान्यं नानाप्रहरणेन दर्शयति। शिर:कर्तनादिहतशरीरस्यापि क्रोधातिशयं सूचयन्वीराद्भेदमाह। युद्धवीरेपि हि तन्नास्ति। इह तु वक्ष्यते—उग्रकर्मेति। उग्राण्यौग्र्यप्रधानानि यानि शिर:कर्तनादीनि तेषां या क्रिया अभिनीति: सा आत्मा प्रधानं यस्येति। भरतमुनिस्त्वेकेन श्लोकेनोपसंहरति—इति रौद्ररस इति॥ (६६)

इति रौद्ररसप्रकरणं समाप्तम्।

अथ वीररसप्रकरणम्।

अथ वीरो नामोत्तमप्रकृतिरुत्साहात्मक:। स चासंमोहाध्यवसायनयविनयबलं पराक्रमशक्तिप्रतापप्रभावादिभिर्विभावैरुत्पद्यते। तस्य स्थैर्यधैर्यशौर्यत्यागवैशारद्यादिभिरनुभावैरभिनय: प्रयोक्तव्य:। भावाश्चास्य धृतिमतिगर्वावेगौग्र्यामर्षस्मृतिरोमाञ्चादय:।

अत्रार्ये रसविचारमुखे

उत्साहा (होऽ) ध्यवसायादविषादित्वादविस्मयामोहात्।
विविधादर्थविशेषाद्वीररसो नाम सम्भवति॥ ६७॥
स्थितिधैर्यवीर्यगर्वैरुत्साहपराक्रमप्रभावैश्च।
वाक्यैश्चाक्षेपकृतैर्वीररस: सम्यगभिनेय:॥ ६८॥

क्रमप्राप्तं वीरं लक्षयति—(अथ वीरेति) युद्धवीरे हि संग्रामसम्प्रहारयोगो रौद्रेऽपीति वीरे जिघांसेति। आनन्तर्यमथशब्देनाह। उत्तमानां प्रकृति: स्वभावो यत उत्साहोऽतो वीररसोऽपि तथा। यदि वा काव्ये नाट्ये च प्रयुज्यमान उत्तमप्रकृतिर्हेतुर्यस्य। उत्तमवर्णानां हि सर्वत्रोत्साह आस्वाद्यो भवति। अत एव चतुर्ष्वपि नायकेषु वी (धी) रत्वमनुयायित्वेन वक्ष्यते धीरोदात्त इत्यादि। तत्र सर्वो जन उत्साहवानेव। किन्त्वविषय इत्यनुपदेश्यचरितता। यदीयं तु चरितमुपदेशार्हं तेषामुचित एवावसरे उत्साहाभिव्यक्ति:। उचितत्वं चावसरस्यासंमोहादिसम्पत्तिरिति सैव विभावत्वनोपदिष्टा। असंमोहेनाध्यवसायो हि वस्तुतत्वनिश्चय इति मन्त्रशक्तिर्दर्शिता। असद्वस्त्वभिनिवेशोऽसंमोहो रावणादिगत उत्साहकारीत्यसत्। अशब्दार्थत्वात्। तत्रापि च पराक्रमनयादिरेव विभाव:। सन्ध्यादिगुणानां सभ्यक्प्रयोगो नय:। इन्द्रियजयो विनय:। बलं हस्त्यश्वरथपादातम्। पराक्रम: परकीयमण्डलाद्याक्रमेणावस्कन्द:। युद्धादिके सामर्थ्यं शक्ति:। प्रताप: शत्रुविषये सन्तापकारिणी प्रसिद्धि:। प्रभावोऽभिजनधनमन्त्रिसम्पत्। आदिग्रहणेन यश:प्रभृति। एते च सम्पूर्णस्वभावा एव विभावा भवन्ति। उत्तमस्य कदाचित्कश्चिदधिक इति

पृथक्पृथगुदाहरणम्। वस्तुतो ह्यत्रोदाहरणं सर्वमेव रामादिचरितम्। सचिवायत्तसिद्धौ च वत्सराजप्राये नायके यथायोगं सचिवगता अप्येते मन्तव्याः। प्रतिनायकगता अपि च ते उत्साहव्यञ्जका इति यथायोगं व्यस्तसमस्तभेदकल्पनं कविना कार्यम्।

स्थैर्यमचलनम्। गाम्भीर्यकृतं संवरणं धैर्यम्। शौर्यं युद्धादिक्रिया। त्यागो दानम्। वैशारद्यं सामाद्युपायचतुष्कस्यैकद्वित्रिचतुरादिभिर्भेदैर्यथाविषयं नियोजनम्।

विविधधर्मादिलक्षणमर्थनीयं विशेषमभिसन्धाय अविषादित्वादविस्मयादमोहाच्च योऽध्यवसायो निश्चयः स चोत्साहयतीत्युत्साहः।

एतदुक्तं भवति—आपद्यङ्कक (त्सद्गति) निमग्नतां स्वल्पे सन्तोषं मिथ्याज्ञानं चापास्य यस्तत्त्वनिश्चयः स एवोत्साहहेतुः प्रधानतया। गैद्रे तु तमःप्राधान्यादशास्त्रीयानुचितबन्धाद्यपीति मोहविस्मयप्राधान्यम्।

स्थितिः स्थैर्यम्। वीर्य शौर्यम्। गर्वपदेन तदनुभावो लक्ष्यते। उत्साहनमुत्साहोऽबलस्य विपण्णप्रायस्योत्तेजनं यथा सेतुबन्धकाव्ये। पराक्रमः पराक्रमणम्। इत्थमत्र भवद्भिरासितव्यं योद्धव्यमिति बलस्य व्यापारणादितिकर्तव्यानां भृत्यानां प्रभावना प्रभावसम्पादनम्। आक्षेपो वस्त्वन्तरस्य सूचनं तेन कृतानि तत्प्रधानानि यानि वाक्यानीति गम्भीरदुरवगाहार्थत्वं वाक्यानामित्युक्तम्। (६८)

इति वीररसप्रकणं समाप्तम्।

अथ भयानकरसप्रकरण्।

अथ भयानको नाम भयस्थायिभावात्मकः। स च विकृतरवसत्त्वदर्शनशिवोलूकत्रासोद्वेगशून्यागारारण्यगमनस्वजनवधबन्धदर्शन श्रवणकथादिभिर्विभावैरुत्पद्यते। तस्य प्रवेपितकरचरणनयनचपलपुलकमुखवैवर्ण्यस्वरभेदादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्य।

भावाश्चास्य स्तम्भस्वेदगद्गदरोमाञ्चवेपथुस्वरभेदवैवर्ण्यशङ्कामोहदैन्यावेगचापलजडतात्रासापस्मारमरणादय।

अत्रार्या—

विकृतरवसत्त्वदर्शनसंग्रामारण्यगृहगमनात्।
गुरुनृपयोरपराधात्कृतकश्च भयानको ज्ञेयः॥ ६९॥
गात्रमुखदृष्टिभेदैरूरुस्तम्भाभिवीक्षणोद्वेगैः।
सन्नमुखशोषहृदयस्पन्दनरोमोद्गमैश्च भयम्॥ ७०॥

एतत्स्वभावजं स्यात्सत्त्वसमुत्थं तथैव कर्तव्यम्।
पुनरेभिरेव भावैः कृतकं मृदुचेष्टितैः कार्यम्॥ ७१॥
करचरणवेपथुस्तम्भगात्रहृदयप्रकम्पेन।
शुष्कोष्ठतालुकण्ठैर्भयानको नित्यमभिनेयः॥ ७२॥

वीरस्य भीताभयप्रधानत्वाद्भयानकं लक्षयति—अथेति। विकृतो रवोऽट्टहासादिः। सत्त्वानां पिशाचानां दर्शनम्। त्रासोद्वेगौ परगतौ। शून्यागारस्यारण्यस्य च गमनं प्राप्तिः। स्वजनस्य यौ वधबन्धौ तयोर्दर्शनं प्रत्यक्षेण। श्रवणमागमेन। कथादि अतिक्रान्तयोरपि पुनरनुसन्धानेन स्मरणम्।

वेपितुं प्रवृत्तं यत्करचरणं तदादिकर्मैव भयव्यञ्जकं व्याध्यादिवैलक्षण्यसूचनात्। पुलको रोमकूपोन्नतिः। स्वरस्य भेदः स्वभावविपर्ययः।

गुरुनृपयोरिति। अयमाशयः—भयं तावत्स्त्रीनीचबालादिषु वक्ष्यते। नोत्तममध्यमप्रकृतिषु। तेऽपि तु गुरुभ्यो राज्ञश्च भयं दर्शयेयुः। तदभावेऽप्येवं सुतरामुत्तमत्वं भवति। अप्रभुत्वं चामात्यानाम्। यथाह—'स्वेच्छाचारी भीत एवास्मि' इति। (रत्ना० १.७)। अनुभावाश्च तथा शिलष्टास्तत्र क्रियन्ते लोके येन सत्यत एव भीतोऽयमिति गुर्वादीनां प्रतीतिर्भवति। अस्वाभाविकत्वाच्च कृतकत्वं बहुतरकालानुवर्तनेनास्वाद्यत्वाच्च रसत्वम्। न च व्यभिचारित्वम्। तद्धि तदा स्याद्यदि स्वभावत एव (न) किञ्चित्काललवमुत्पद्यते (न)। (६९)

गात्रादीनां भेदो वर्णकर्मसंस्थानादिविपर्ययः। वीक्ष्यमति (भि) क्र (क्रा) म्यति वीक्षणं कान्दिशीकत्वेन निर्लक्षचक्षुःकृतम्। उद्वेगः चलनम्। सादो गात्राणां स्त्रस्तता। मुखस्य तालुनि शोषः। हृदयस्पन्दनमतिवेगेन। इह भयमित्यभिनेयमिति वीररस इत्यार्यातः सम्बन्ध्यते।

ता एता ह्यार्या एकप्रघट्टकतया पूर्वाचार्यैर्लक्षणत्वेन पठिताः। मुनिना तु सुखसङ्ग्रहाय यथास्थानं निवेशिताः।

सत्त्वसमुत्थमिति। सत्त्वं मनस्समाधानं तज्जन्मकमिति नटस्येयं शिक्षा। सा च सर्वविषयेति टीकाकारः। तदिदमसत्। कविनटशिक्षार्थमेव सर्वमिदं प्रकरणम्। लोके विभावानुभावाभिनयादिव्यवहाराभावात्।

स्वभावजं रजस्तमःप्रकृतीनां नीचानामित्यर्थः। येऽपि च सत्त्वप्रधानास्तेषां सत्त्वसमुत्थं प्रयत्नकृतमेभिरेवानुभावैः कार्यम्। किन्तु मृदुचेष्टितैः यतस्तत्कृतकम्। पुनः शब्दो विशेषद्योतकः। ननु च राजादि किमिति गुर्वादिभ्यो भयं कृतकं दर्शयित्वा किमिति मृदून् गात्रकम्पनादीन्प्रदर्शयति। किमिति च भयानक एव कृतकत्वमुक्तम्। सर्वस्य

हि कृतकत्वमुक्तं भवति। यथा वेश्या धनार्थिनीति कृतकां रतिमादर्शयतिइत्याशङ्क्य साधारणमुत्तरमाह—तथैव कार्यमिति। भये हि प्रदर्शिते गुरुर्विनीतं जानाति। मृदुचेष्टितया चाधमप्रकृतिमेनं न गणयति। कृतकशृङ्गारा (रात्) वेश्योपदिष्टानां न काचित्पुरुषार्थसिद्धिः तेनैव ह्युक्तेन प्रकारेण कार्यपुरुषार्थविशेषो लभ्यते। यत्र तु राजा न कृतकं परानुग्रहाय क्रोधविस्मयादीन्दर्शयति—तत्र व्यभिचारितैव तेषां न स्थायितेत्येतदर्थ-सूचिकामेव गुरुवंशान्तरप्रसिद्धामार्या पठति—च करचरणेति। नित्यमिति। कृतकत्वेऽकृतकत्वे च। (७२)

इति भयानकरसप्रकरण्॥

अथ बीभत्सरसप्रकरणम्॥

अथ बीभत्सो नाम जुगुप्सास्थायिभावात्मकः। स चाहृद्याप्रिया-चोष्यानिष्टश्रवणदर्शनकीर्तनादिभिर्विभावैरुत्पद्यते। तस्य सर्वाङ्गसंहार-मुखविकूणनोल्लेखननिष्ठीवनोद्वेजनादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः। भावाश्चास्यापस्मारोद्वेगावेगमोहव्याधिमरणादयः।

अत्रानुवंश्ये आर्ये भवतः—

अनभिमतदर्शनेन च गन्धरसस्पर्शशब्ददोषैश्च।
उद्वेजनैश्च बहुभिर्बीभत्सरसः समुद्भवति॥ ७३॥
मुखनेत्रविकूणनया नासाप्रच्छादनावनमितास्यैः।
अव्यक्तपादपतनैर्बीभत्सः सम्यगभिनेयः॥ ७४॥

अवसरप्राप्तं बीभत्सरसं लक्षयति—अथेति। हृदयस्यापि किञ्चित्कस्य-चिन्निसर्गतोऽप्रियं लशुनमिव द्विजानाम्। अप्रियं जात्यादिदोषात्। यथा श्लेष्मोपहतस्य क्षीरम्। अचोक्षं स्वरूपेणादुष्टमपि तु मलाद्युपहतम्। अनिष्टं यत्रानिशं भुक्तत्वेनेच्छा निवृत्ता। संहारः पिण्डीकरणम्। मुखस्येति तदङ्गानां सङ्कोचनम् उल्लेखनमुल्लाघः। निष्ठीवनं कफनिरासनम्। उद्वेजनं गात्रोद्धूननम् नासाप्रच्छादनं दुर्गन्धप्राये दृष्टम्। प्रतिघातादव्यक्तानि पादयोः पातनानि। यदि वाऽस्थिकङ्कालाद्याकुले पितृवने सञ्चरतोऽस्फुटितानि पादपतनानि क्वचिद्दीर्घाणि अन्यत्र ह्रस्वानि इति। (७४)

इति बीभत्सरसप्रकरणम्॥

अथाद्भुतरसप्रकरणम्।

अथाद्भुतो नाम विस्मयस्थायिभावात्मकः। स च दिव्यजन-दर्शनेप्सितमनोरथावाप्त्युपवनदेवकुलादिगमनसभाविमानमायेन्द्रजाल सम्भावनादिभि विभावैरुत्पद्यते। तस्य नयनविस्तारानिमेषप्रेक्षण रोमाञ्चाश्रुस्वेदहर्षसाधुवाददानप्रबन्धहाहाकारबाहुवदनचेलाङ्गुलि भ्रमणादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः। भावाश्चास्य स्तभाश्रुस्वेद-गद्गदरोमाञ्चावेगसम्भ्रमजडताप्रलयादयः। अत्रानुवंश्ये आर्ये भवत—

यत्वतिशयार्थयुक्तं वाक्यं शिल्पं च कर्मरूपं वा।
तत्सर्वमद्भुतरसे विभावरूपं हि विज्ञेयम्॥ ७५॥
स्पर्शग्रहोल्लुकसनैर्हाहाकारैश्च साधुवादैश्च।
वेपथुगद्गदवचनैः स्वेदाद्यैरभिनयस्तस्य॥ ७६॥

सर्वत्रान्तेऽद्भुत इत्युक्तं लक्षयितुमाह—अथेति। दिव्या गन्धर्वादयः। ईप्सितः शक्यप्राप्तिरर्थः। अन्यो मनोरथः। तयोः प्राप्तिरुपचयनम्। देवकुले च गमनम्। तस्याद्भुतविभावो येन तत्रत्यं सरसनिवेशादि न क्वचित् दृष्टम्। सभा गृहविशेषः। विमानादीनि दिव्यरथः। माया रूपपरिवर्तनादिका। इन्द्रजालं मत्रद्रव्यवस्तुयुक्त्यादिना असम्भवद्वस्तुप्रदर्शनम्। तस्येत्यद्भुतस्य। हर्षशब्देनात्र तदनुभावाः। साध्विति वदनं साधुवादः। दानं धनादेः प्रबन्धं सततं कृत्वा। हाहाशब्दस्य करणम्। चेलस्याङ्गुलेश्च भ्रमणम्।

अतिशेत इत्यतिशयः। अन्यापेक्षया योऽर्थ उत्कृष्टः। तेन वाच्यभूतेन युक्तं यद्वाक्यं यच्च शिल्पं कर्मरूपं कर्मात्मकं, 'प्रशंसायां रूपप्'। सर्वमित्येवंप्रकारमितियावत्। स्पर्शग्रहशब्देन तद्विभावादयः। अभिनयो ल (व) क्ष्यमाणो लक्ष्यते।

'किञ्चिदाकुञ्चिते नेत्रे कृत्वा भ्रूक्षेपमेव च।
तथांसगण्डयोः स्पर्शात्स्पर्शमेवं विनिक्षिपेत्॥'

(ना०शा० २२.७७) इति।

गात्रस्योर्व्वं साह्लादं धूननमुल्लुकसनम्। बहुवचनं प्रकृतिभेदेन प्रकारवैचित्र्यं सूचयति॥ (७६)

इत्यद्भुतरसप्रकरणं समाप्तम्।

श्रृङ्गारं त्रिविधं विद्याद्वाङ्नैपथ्यक्रियात्मकम्।
अङ्गनैपथ्यवाक्यैश्च हास्यरौद्रौ त्रिधा स्मृतौ॥ ७७॥
धर्मोपघातजश्चैव तथार्थापचयोद्भवः।
तथा शोककृतश्चैव करुणस्त्रिविधः स्मृतः॥ ७८॥
दानवीरं धर्मवीरं युद्धवीरं तथैव च।
रसं वीरमपि प्राह ब्रह्मा त्रिविधमेव हि॥ ७९॥
व्याजाच्चैवापराधाच्च वित्रासितकमेव च।
पुनर्भयानकञ्चैव विद्यात् त्रिविधमेव हि॥ ८०॥
बीभत्सः क्षोभजः शुद्ध उद्वेगी स्यात् द्वितीयकः।
विष्ठाकृमिभिरुद्वेगी क्षोभजो रुधिरादिजः॥ ८१॥
दिव्यश्चानन्दजश्चैव द्विधा ख्यातोऽद्भुतो रसः।
दिव्यदर्शनजो दिव्यो हर्षादानन्दजः स्मृतः॥ ८२॥

अथ प्रधानभूतविभावानुगुणभावप्रतिपादनं भेदप्रदर्शनव्याजेन करोति—श्रृङ्गारमित्यादिना। वाक्यरौद्रो हि तत्र स्वभावरौद्र इति व्यवहरिष्यते। स्वभावानुसारित्वाद्वाक्यस्य। धर्मोपघातज उत्तमानामपि शोभनहेतुत्वात्। शोकशब्देन स्वजनादिनाशश्च। एते त्रयो विभावाः। धर्मशब्देनाग्निष्टोमादिक्रिया। अत एतद्यजनादीनि नियमानुभावात्मकम्। प्रतिनायकगतं तु विभावरूपमपि। व्याजादिति! कृतक इत्यर्थः। अनेनानुभावमार्दवं दर्शितम्। अपराध्यन्तीत्यपराद्धाश्चोरादयः। यत्तु स्वभावत्रस्तहृदयानां स्त्रीबालादीनां तृणेऽपि कम्पमाने भयं तद्वित्रासितकम्। विशेषेण त्रास्यत इति वित्रासितो बालादिः। तत्प्रकृतित्वाद्भयानकं तथोक्तम्। ततः संज्ञायां कन्।

गुर्वाद्यपराधात्परमार्थतोऽप्युत्तमानां भयावेग इति त्वसत्। भयं हि विनाशशङ्कात्मकं नोत्तमेषु संभवति। तथा च भयं नाम स्त्रीनीचप्रकृतिकमिति सामान्येन ल (मान्ये व) क्ष्यते।

रुधिरान्त्रादिदर्शनाद्यो बीभत्सः क्षोभणत्वाच्छुद्धः। यस्तु विष्ठादिभ्यः स उद्वेगी हृदयं चालयति सोऽशुद्धः। अशुद्धविभावकत्वात्। उपाध्यायस्त्वाह—बीभत्सस्तावद्विभावविशेषात्। यत्र तु संसारनाट्यनायकरागप्रतिपक्षतया मोक्षसाधनत्वाच्छुद्धः। यदाहुः—'शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा' इति। तथा 'वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्।' (योगसू० २.४०, ३३) इति। तेन सोऽपि परमार्थतस्त्रिविध एव। द्वितीयक इत्यनेन तस्य दुर्लभत्वेनाप्राचुर्यं सूचयति।

दिव्य इति। यत्र सभाविमानादयोऽनुभावाः। आनन्दयतीत्यानन्दो मनोरथावाप्त्यादिः। स एव हर्षयतीति हर्षः

एपु च 'शृङ्गारम्' इत्यादिषु श्लोकेषु चकारा विभानुभावान्तर-निरासशङ्कां पराकर्तुम्। एवकाराः इयन्त एव तेषां मुख्यत्वेन सङ्गता इति दर्शनार्थाः। तथाशब्दा अनुक्तविभावाद्यूहनार्था इति यथायोगं योज्यम्। (८२)

इत्यद्भुतरसप्रकरणं समाप्तम्।

। अथ शान्तरस विचारः।

अथ शान्तो नाम शमस्थायिभावात्मको मोक्षप्रवर्तकः। स तु तत्त्वज्ञानवैराग्याशयशुद्ध्यादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते। तस्य यमनिमाध्यात्मध्यानधारणोपासनसर्वभूतदयालिङ्गग्रहणादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः। व्यभिचारिणश्चास्य निर्वेदस्मृतिधृतिसर्वाश्रमशौचस्तम्भरोमाञ्चादयः। अत्रार्याः श्लोकाश्च भवन्ति—

मोक्षाध्यात्मसमुत्थस्तत्त्वज्ञानार्थहेतुसंयुक्तः।
नेःश्रेयसोपदिष्टः शान्तरसो नाम सम्भवति॥
बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियसंरोधाध्यात्मसंस्थितोपेतः।
सर्वप्राणिसुखहितः शान्तरसो नाम विज्ञेयः॥
न यत्र दुःखं न सुखं न द्वेषो नापि मत्सरः।
समः सर्वेषु भूतेषु स शान्तः प्रथितो रसः॥
भावाः विकारा रत्याद्याः शान्तस्तु प्रकृतिर्मतः।
विकारः प्रकृतेर्जातः पुनस्तत्रैव लीयते॥
स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद्भावः प्रवर्तते।
पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते॥
एवं नवरसा दृष्टा नाट्यज्ञैर्लक्षणान्विता॥

ये पुनर्नव रसा इति पठन्ति तन्मते शान्तस्वरूपभिधीयते। तत्र केचिदाहुः—शान्तः शमस्थायिभावात्मकस्तपस्यायोगिसम्पर्कादिभिः विभावैरुत्पद्यते तस्य कामक्रोधाद्यभावरूपैरनुभावैरभिनयः। व्यभिचारी धृतिमतिप्रभृतिः (इति)।

एतदपरे न सहन्ते। शमशान्तयोः पर्यायत्वात्। एकान्नपञ्चाशद्भावा इति संख्यात्यागात्। किञ्च विभावा ऋतुमाल्यादयस्तत्समनन्तरभाविनि शृङ्गारादावनुसन्धीयन्ते इति युक्तम्। तपोऽध्ययनादयस्तु न शान्तस्य शमस्य (शमनस्य) (ये) हेतवः। तत्त्वज्ञानस्यानन्तरहेतव इति चेत्पूर्वोदिततत्त्वज्ञानेऽपि तर्हि प्रयोज्यतेति तपोऽध्ययनादीनां विभावता त्यक्ता स्यात्। कामाद्यभावोऽपि

नानुभावः। शा (अशा) न्ताद्विपक्षादव्यावृत्तेः। आगमकत्वात्प्रयोगासमवायित्वाच्च। न हि चेष्टाव्युपरमः प्रयोगयोग्यः। सुप्तमोहादयोऽपि हिं निःश्वासोच्छ्वासपतनभूषणादिभिश्चेष्टाभिरेवानुभाव्यन्ते। धृतिप्रभृतिरपि प्राप्तविषयोपभोगः कथं शान्ते स्यात्। न चाकिञ्चित्करत्वमात्रेण तत्त्वज्ञानोपाये व्युत्पाद्यन्ते। विनेये चैते परदुःखदुःखितमनसो दृश्यन्ते सम्यग्दर्शनसमावस्थां प्राप्ताः। अपि तु संसारे। तन्न शान्तो रस इति।

अत्रोच्यते—इह तावद्धर्मादित्रितयमिव मोक्षोऽपि पुरुषार्थः शास्त्रेषु स्मृतीतिहासादिषु च प्राधान्येनोपायतो व्युत्पाद्यत इति सुप्रसिद्धम्। यथा च कामादिषु समुचिताश्चित्तवृत्तयो रत्यादिशब्दवाच्याः कविनटव्यापारेण-स्वादयोग्यताप्रापणद्वारेण तथाविधहृदयसंवादवतः सामाजिकान्प्रति रसत्वं शृङ्गारादितया नीयन्ते तथा मोक्षाभिधानपरमपुरुषार्थोचिता चित्तवृत्तिः किमिति रसत्वं नानीयत इति वक्तव्यम्। सा चासौ तथाभूता चित्तवृत्तिः सैवात्र स्थायिभावः। एतत्तु चिन्त्यम् किं नामासौ—तत्त्वज्ञानोत्थितो निर्वेद इति केचित्। तथा हि—दारिद्र्यादिप्रभवो यो निर्वेदः स ततोऽन्य एव। हेतोस्तत्त्वज्ञानस्य वैलक्षण्यात्। स्थायिसञ्चारिमध्ये चैतदर्थमेवायं पठितः। अन्यथा माङ्गलिको मुनिस्तथा न पठेत्। जुगुप्सां च व्यभिचारित्वेन शृङ्गारे निषेधन्मुनिर्भावानां सर्वेषामेव स्थायित्वसञ्चारित्वचिन्तनात्तावत्वानुभाव-भावत्वानि योग्यतोपनिपातितानि शब्दार्थबलाकृष्टान्यनुजानाति।

तत्त्वज्ञानजश्च निर्वेदः स्थाय्यन्तरोपमर्दकः। भाववैचित्र्यसहिष्णुभ्यो रत्यादिभ्यो यः परमः स्थायिशीलः स एव हि स्थाय्यन्तराणामुपमर्दकः। इदमपि पर्यनुयुञ्जते—तत्त्वज्ञानजो निर्वेदोऽस्य च स्थायीति वदता तत्त्वज्ञानमेवात्र विभावत्वेनोक्तं स्यात्। वैराग्यबीजादिषु कथं विभावत्वम्। तदुपायत्वादिति चेत्कारणकारणेऽ विभावताव्यवहारः। स चातिप्रसङ्गावहः।

किञ्च निर्वेदो नाम सर्वत्रानुपादेयताप्रत्ययः। वैराग्यलक्षणस्य च तत्त्वज्ञानास्य प्रत्युतोपयोगी। विरक्तो हि तथा प्रयतते यथा अस्य तत्त्वज्ञानमुत्पद्यते। तत्त्वज्ञानादि मोक्षः। न तु तत्त्वं ज्ञात्वा निर्विद्यते निर्वेदाच्च मोक्ष इति। 'वैराग्यात्प्रकृतिलयः।' इति हि तत्रभवन्तः। (ई०कृ० सांख्यकारिका० ४५)

ननु तत्त्वज्ञानिनः सर्वत्र दृढतरं वैराग्यं दृष्टम्। तत्रभवद्भिरप्युक्तं—'तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्' इति (योगसूत्र—१-१६)। भवत्येवम्। तादृशं तु 'वैराग्यं ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा।' इति (व्यासभाष्य—१-१६) भुजङ्गविभुनैव

भगवताऽभ्यधायि। ततश्च तत्त्वज्ञानमेवेदं तत्त्वज्ञानमालया परिपोष्यमाणमिति न निर्वेदः स्थायी। किन्तु तत्त्वज्ञानमेव स्थायीति भवेत्। यत्तु व्यभिचारिव्याख्यानावसरे वक्ष्यते तच्चिरकालविभ्रमविप्रलब्धस्योपादेयत्वनिवृत्तये। यत्सम्यग्ज्ञानम्।

यथा—

'वृथा दुग्धोऽनड्वांस्स्तनभरनता गौरिति परं
परिष्वक्तः षण्डो युवतिरिति लावण्यरहितः।
कृता वैदूर्याशा विकचकिरणे काचशकले
मया मूढेन त्वां कृपणमगुणज्ञं प्रणमता॥' इति

तन्निर्वेदस्य खेदरूपस्य भावत्वेन। एतच्च तत्रैव वक्ष्यामः।

ननु मिथ्याज्ञानमूलो विषयगन्धस्तत्त्वज्ञानात्प्रशाम्यतीति दुःखजन्मसूत्रेणाक्षपादपादैर्वदद्भिर्मिथ्याज्ञानापचयकारणं तत्त्वज्ञानं वैराग्यस्य दोषापायलक्षणस्य कारणमुक्तम्। ननु ततः किम्। वैराग्यं निर्वेदः। क एवमाह। निर्वेदो हि शोकप्रवाहप्रसररूपश्चित्तवृत्तिविशेषः। वैराग्यं तु रागादीनां प्रध्वंसः।

भवतु वा वैराग्यमेव निर्वेदः। तथापि तस्य स्वकारणवशान्मध्यभाविनोऽपि न मोक्षे साध्ये सूत्रस्थानीयतात्यपादाचारीव (प्रत्यपादि)। किञ्च तत्त्वज्ञानोत्थितो निर्वेद इति शमस्यैवेदं निर्वेदनाम कृतं स्यात्। शमशान्तयोः पर्यायत्वं तु हासहास्याभ्यां व्याख्यातम्। सिद्धसाध्यते यद (तथा लौकिका) लौकिकत्वेन साधारणासाधारणतया च वैलक्षण्यं शमशान्तयोरपि सुलभमेव। तस्मान्न निर्वेदः स्थायीति।

अन्ये मन्यन्ते रत्यादय एवाष्टौ चित्तवृत्तिविशेषा उक्ताः। त एव कथितविभाव-विविक्तया (तया) श्रुता (त्या) द्यलौकिकविभावविशेषसंश्रया विचित्रा एव तावत्। ततश्च तन्मध्यादेवान्यतमोऽत्र स्थायी। तत्राना (व्या) हताननमय (तानन्दमय) स्वात्मविषया रतिरेव मोक्षसाधनमिति सैव शास्त्रै (न्ते) स्थायिनीति यथोक्तम्—

'यश्चात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥' इति॥ (गीता ३-१७)।

एवं समस्तविषयं वैकृतं पश्यतो विश्वं च शोच्यं विलोकयतः सांसारिकं च वृत्तान्तमपकारित्वेन पश्यतः सातिशयमसम्मोहप्रधानं विनय (वीर्य) माश्रितवतः सर्वस्माद्विपयसार्थाद्वाह्यतः (द्विभ्यतः) सर्वलोकस्पृहणीयादपि प्रमदादेर्जुगुप्समानस्य (स्या) पूर्वस्वात्मातिशयलाभाद्विस्मयमानस्य मोक्षसिद्धिरिति।

हासा (रतिहासा) दीनां विस्मयान्तानामन्यतमस्य स्थायित्वं

निरूपणीयम्। न चैतन्मुनेर्न सम्मतम्। यावदेव हि विशिष्टान्विभावान्प- रिगणयति आदिशब्देन च तत्प्रकारानेवान्यान्संगृह्णीते तावदेव तद्व्यतिरिक्ता- लौकिकहेतूपनतानां रत्यादीनामनुजानात्येवापवर्गविषयत्वम्। एवंवादिना तु परस्परमेव विचारयतामेकस्य स्थायित्वं विशीर्यत एव। तदुपायभेदात्तस्य तस्य स्थायित्वमित्यप्युच्यमानं प्रगुणमेव (प्रत्युक्तमेव)। स्थायिभेदेन प्रतिपुरुषं रसस्याप्यानन्त्यापत्तौ मोक्षैकफलत्वादेको रस इति चेत् 'क्षमै' (क्षयै) कफलत्वे वीररौद्रयोप्येकत्वं स्यात्। अन्ये तु पानकरसवदविभागं प्राप्ताः सर्व एव रत्यादयोऽत्र स्थायिन इत्याहुः। चित्तवृतीनामयुगपद्भावादन्योन्यं च विरोधादेतदपि न मनोज्ञम्।

कस्तर्ह्यत्र स्थायी उच्यते—इह तत्त्वज्ञानमेव तावन्मोक्षसाधनमिति तस्यैव मोक्षे स्थायिता युक्ता। तत्त्वज्ञानं च नामात्मज्ञानमेव। आत्मनश्च (श्चा) व्यतिरिक्तमिन्द्रिय (क्तं स्याद) स्यैव ज्ञानम्। परो ह्येवमात्माऽनात्मैव स्यात्। विपश्चितं चैतदस्मद्गुरुभिः। अस्माभिश्चान्यत्र वितन्यत इतीह नातिनिर्बन्धः कृतः।

तेनात्मैव ज्ञानानन्दादिविशुद्धधर्मयोगी परिकल्पितविषयोपरागरहितोऽत्र स्थायी। न चास्य (स्या) स्थायितया स्थायित्वं वचनीयम्। रत्यादयो हि तत्तत्कारणान्तरोदयप्रलयोत्पद्यमानवि (नि) रुध्यमानवृत्तयः कञ्चित्कालमापेक्षि- कतया स्थायिरूपात्मभित्तिसंश्रयाः षट् (सन्तः) स्थायिन इत्युच्यन्ते। तत्त्वज्ञानं तु सकलभावान्तरभित्तिस्थानीयं सर्वस्थायिभ्यः स्थायितमं सर्वाः रत्यादिकास्स्था- यिचितवृत्तीर्व्यभिचारीभावयत् निसर्गत एव सिद्धस्थायिभावमिति तन्त्रवचनेन (तन्न वचनीयम्)। अत एव पृथगस्य गणना न युक्ता। न हि खण्डमुण्डयोर्मध्ये तृतीयं गोत्वमिति गण्यते। तेनैकान्नपञ्चाशद्भावा इत्यव्याहतमेव।

अस्यापि कथं (न) पृथग्गणनेति चेत्-पृथगास्वाद (दा) योगादिति ब्रूमहे। न हि रत्यादय इवेतरासम्पृक्तेन वपुषा तथाविधमात्मरूपं लौकिकप्रतीतिगोचरः (रम्।) स्वगतमप्यविकल (ल्प) रूपव्युत्थानावस- रेऽनुसन्धीयमानं चित्तवृत्त्यन्तरकलुषमेवावभाति।

भासतां वा लोके तथा। तथापि न सम्भवन्मात्र (संभावनामात्र) स्थयितां गणनम्। रसेषूक्तेष्वनुपयोगात्। अपि तु व्यभिचारित्वाल्लक्षणीयत्वं विज्ञायते नेति (नेतरथा)। तथाह्येकान्नपञ्चाशता भावैरित्येतत्प्रघट्टकोपपत्तिः। न चास्यात्मस्वभावस्य व्यभिचारित्व (म) सम्भवादवैचित्र्यावहत्वादनौचि- त्याच्च। स (श) मा (म आ) त्मस्वभावस्य (वारी से) द (श) म शब्देन मुनिर्व्य (मुनिव्य) पदिष्टः। यदि तु स एव शमशब्देन व्यपदिश्यते निर्वेदशब्देन वा तन्न कश्चिद्भावः (द्बाधः)। केवलं शमश्चित्तवृत्त्यन्तरम्।

निर्वेदोऽपि दारिद्र्यादिविभावान्तरोत्थितनिर्वेदतुल्यजातीयो न भवति तज्जातीय एव। हेतुभेदेऽपि तद्व्यपदेश्यो रतिभयादिभिरिव।

तदिदमात्मस्वरूपमेव तत्त्वज्ञानं शमता शमः। (तथा च) यत्कालुष्योपरागविशेषा एवात्मनो रत्यादयः। तदनुगमेऽपि विशुद्धमस्य रूपमव्यवधानसमाधिबलादधिशय्य व्युत्थानेऽपि प्रशान्तिता (स्तता) भवति। यथोक्तं—(तस्य) प्रशान्तवाहिता संस्कारात् (योगसू० ३-१०) इति। तत्त्वज्ञानलक्षणस्य च स्थायिनः समस्तोऽयं लौकिकालौकिकचित्तवृत्तिकलापो व्यभिचारितामभ्येति। तदनुभावा एव च यमनियमाद्युपकृता अनुभावाउपा-ङ्गभिनयस्य (आङ्गिका) ध्यायत्रये च ये स्वभावाभिनया वक्ष्यन्ते। अत एते तद्विषया एव। अयमेव हि स्वभावः। विभावा अपि कथम्। ईश्वरानुग्रहप्रभृतयः। प्रक्षयाश्च रत्यादयोऽत्रास्वाद्याः केवलम्। यथा विप्रलम्भे औत्सुक्यं संभोगेऽपि वा 'प्रेमासमाप्तोत्सवम्' (तापसवत्सराज० १-१७) इति। यथा च रौद्रे औग्र्यं यथा च करुणवीरभयानकाद्भुतेषु निर्वेदधृतित्रासहर्षा व्यभिचारिणोऽपि प्राधान्येनावभासन्ते तथा न जुगुप्सायाम्। सर्वथैव रागप्रतिपक्षत्वात्।

तथा हि महाव्रते नरकपालादिधारणमसु (स्व) भार्यदिसम्पदादि-विस्तारसंक्षेपादिकर्मीकृतिर्हि धर्मे जुगुप्साहेतुत्वेनैव। निजाभ्यणे (घृताञ्जनेन च देवरातपुत्रजन्माद्युपदिष्टम्।

स्वात्मनि च कृतकृत्यस्य परार्थघटनायामेवोद्यम इत्युत्साहोऽस्य परोपकारविषयेच्छाप्रयत्नरूपो दयापरपर्यायोऽभ्यधिकोऽन्तरङ्गः। अत एव तत्केचिद्दयावीस्त्वेन व्यपदिशन्ति। अन्ये धर्मवीरत्वेन।

ननूत्साहोऽहङ्कारप्राणः। शान्तस्त्वहङ्कारशैथिल्यात् तद्विरुद्धात्मकः। व्यभिचारित्वं हि विरुद्धस्यापि न नोचितं रताविव निर्वेदादेः।

'शय्या शाद्वलम्' आसनं शुचि शिला सद्म द्रुमाणामधः
शीतं निर्झरवारि पानमशनं कन्दाः सहाया मृगाः।
इत्यप्रार्थितसर्वलभ्यविभवे दोषोऽयमेको वने
दुष्प्रापार्थिनि यत्परार्थघटनावन्ध्यैर्वृथा स्थीयते॥

(नागानन्द० ४-२)

इत्यादौ हि परोपकारकरणे ह्युत्साहस्यैव प्रकर्षो लक्ष्यते। न तूत्साहशून्या काचिदप्यवस्था। इच्छाप्रयत्नव्यतिरेकेण पाषाणतापत्तेः। यत एव परिदृष्टपरापरत्वेन स्वात्मोद्देशेन कर्तव्यान्तरं नावशिष्यते। अत एव शान्तहृदयानां परोपकाराय शरीरसर्वस्वादिदानं न शान्तविरोधि। 'आत्मानं

गोपायेत्' (गौतमधर्मसूत्र- ९.३५) इत्यादिना ह्यकृतकृत्यविषयं शरीररक्षणमुपदिश्यते। सन्यासिनां तद्रक्षादितात्पर्याभावात्। तथा हि—

"धमार्थकाममोक्षाणां प्राणाः संस्थितिहेतवः।
तान्निध्नता किन्न हतं रक्षता किं न रक्षितम्॥"

(हितोपदेश-१.८३) इति।

सुप्रसिद्धचतुर्वर्गसाधकत्वमेव देहरक्षायाः निदानं दर्शितम्। कृतकृत्यस्य 'जलेऽग्नौ श्वभ्रे वा पतेत्' इति सन्यासित्वे श्रवणात्। तद्यथाकथञ्चित्त्याज्यं शरीरं यदि परार्थ त्यज्यते तत्किमिव न सम्पादितं भवति। जूमूतवाहनादीनां न यतित्वमिति चेत् किं तेन? नः तत्त्वज्ञानित्वं तावदवश्यमस्ति। अन्यथा देहात्मानिनां देह एव सर्वस्वभूते (तः)। धर्माद्यनुद्देशेन परार्थे त्यागस्यासम्भवात्। युद्धेऽपि हि न शरीरस्य त्यागायोद्यमः। परापजयोद्देशेनैव प्रवृत्तेः। भृगुपतनादावपि शुभतरदेहान्तरसम्पिपादयिषैवाधिकं विजृम्भते। तत्स्वार्थानुद्देशेन परार्थसम्पत्त्यै यद्यच्चेष्टितं देहत्यागपर्यन्तमुपदेशदानादि तत्तदलब्धात्मतत्त्वज्ञानानामसम्भाव्यमेवेति तेऽपि तत्त्वज्ञानिनः। 'ज्ञानिनां सर्वेष्वाश्रमेषु मुक्तिः' इति स्मार्तेषु श्रुतौ च। यथोक्तम्—

'देवार्चनरतस्तत्वज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रियः।
श्राद्धं कृत्वा दददद्रव्यं गृहस्थोऽपि हि मुच्यते॥' इति

केवलं परार्थाभिसन्धिजाद्धर्मात्परोपकारात्मकफलत्वेनैवाभिसंहितात् पुनरपि देहस्य तदुचितस्यैव प्रादुर्भावो बोधिसत्त्वादीनाम्। तत्त्वज्ञानिनामपि विश्रान्तिलाभस्वभावौचित्यात्। यथा रामस्य वीरोऽङ्गं पितुराज्ञां पालयितुः। एवं शृङ्गाराद्यङ्गेष्वपि मन्तव्यम्। अत एव शान्तस्य स्थायित्वेऽप्यप्राधान्यम्।

जीमूतवाहने त्रिवर्गसम्पत्तेरेव परोपकृतिप्रधानायाः फलत्वात्। अनेनैवाशयेन नाटकलक्षणे वक्ष्यते 'ऋद्धिविलासादिभिर्गुणैः' (ना०शा० १८-११) इति। अनेन हि ऋद्धिविलासप्रधानमर्थकामोत्तरं सर्वं चरितं सकललोकहृदयसंवादसुन्दरप्रयोजनं नाटके निवेशयितव्यमित्युक्तम्। एतच्च तत्रैव वर्णयिष्यामः।

अनेनैव चाशयेन न शान्ते कश्चन (क्वचन) मुनिना ऋद्ध्यङ्गको विनियोक्ष्यते। तेन ऋद्ध्यङ्गकविनियोगाभावात्तदसत्त्वमिति प्रत्युक्तम्।

अन्ये तु जीमूतवाहनः 'कस्ते पुत्र त्राता भविष्यति' (नागानन्द० ४-९) इति शरणार्थिनीं वृद्धामेव त्रातवान्। शक्तिश्चास्य न काचित्। परहिंसा च न काचिदित्येवमाहुः। तच्चानुमतमेव। न हि बोधिसत्त्वानां

पुनरप्युत्थानात्मकजीवितमभिसन्धानानुप्रविष्टं शक्तिश्चेदिति (श्चेति)। न च काकतालीयवृत्त्या शास्त्रमुपदिशति। तत्सिद्धं दयालक्षणो ह्युत्साहोऽत्र प्रधानम्।

अन्ये तु व्यभिचारिणो यथायोगं भवन्ति। यथोक्तं 'तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्य:' (योगसूत्र ४-२७) इति। अत एव निश्चेष्टत्वादनुभावाभाव इति प्रत्युक्तम्। यदा तु पर्यन्तभूमिकालाभहेतुभावाभाव (हेतुभाव) स्तदास्याप्रयोज्यत्वम्। रतिशोकादावपि पर्यन्तदशायामप्रयोगस्यैव युक्तत्वात्। हृदयसंवादोऽपि तताविधतत्त्वज्ञानबीजसंस्कारभावितानां भवत्येव। यद्वक्ष्यति 'मोक्षे चापि विरागिण:' (ना०शा० २७-५८) इति। 'सर्वस्य तु' (ना०शा० १-१०७) इत्यत्र हृदयसंवादे भयानके वीरप्रकृतेरभावात्।

ननु तादृशि प्रयोगे वीरस्य क आस्वाद:? उच्यते—यत्रायं निबध्यते तत्रावश्यं पुरुषार्थोपयोगि शृङ्गारवीराद्यन्यतममस्त्येव। तन्निष्ठस्तेषामास्वाद:। यत्रापि प्रहसनादौ हास्यादे: प्रधानता तत्राप्यनुनिष्पादिरसान्तरनिष्ठ एवास्वादो भिन्नभिन्नाधिकारिण:। एतदुद्देश एव रूपकभेदचिन्तननिमित्तमिति केचित्।

तस्मादस्ति शान्तो रस:। तथा च चिरन्तनपुस्तकेषु 'स्थायिभावान् रसत्वमुपनेष्याम:' (ना०शा० पृ० २९९) इत्यनन्तरं 'शान्तो नाम शमस्थायिभावात्मक:' (ना०शा० पृ० ३१२) इत्यादिशान्तलक्षणं पठ्यते। तत्र सर्वरसानां शान्तप्राय एवास्वादो न विषयेभ्यो विपरिवृत्त्या, तन्मुख्यतालाभात्केवलं वासनान्तरोपहित इत्यस्य सर्वप्रकृतित्वाभिधानाय पूर्वमभिधानम्। लोके च पृथक्पृथक्सामान्यस्य न गणनमिति स्वाय्यस्य पृथङ्नोक्त:। सामान्यमपि तु विवेचकेन पृथगेव गणनीयमिति विवेचकाभिमतसामाजिकास्वादलक्षणप्रतीतिविषयतया स पृथग्भूत एव। इतिहासपुराणाभिधानकोशादौ च नव रसा: श्रूयन्ते श्रीमत्सिद्धान्तशास्त्रेष्वपि। तथा चोक्तम्—

'अष्टानामिह देवानां शृङ्गारादीन् प्रदर्शयेत्।
मध्ये च देवदेवस्य शान्तं रूपं प्रकल्पतेत्॥' (इति)।

तस्य च वैराग्यसंसारभीरुतादयो विभावा:। स हि तैरुपनिबद्धैर्विज्ञायते। मोक्षशास्त्रचिन्तादयोऽनुभावा:। निर्वेदमतिस्मृतिधृत्यादयो व्यभिचारिण:। अत एवेश्वरप्रणिधानविषये भक्तिश्रद्धे स्मृतिमतिधृत्युत्साहाद्यनुप्रविष्टेऽस्यैवाङ्गमिति न तयो: पृथग्रसत्वेन गणनम्। अत्र सङ्ग्रहकारिका—

मोक्षाध्यात्मनिमित्तस्तत्त्वज्ञानार्थहेतुसंयुक्त:।
नि:श्रेयसधर्मयुत: शान्तरसो नाम विज्ञेय:॥

विभावस्थाय्यनुभावयोग: क्रमाद्विशेषणत्रयेण दर्शित:।

स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद्भाव: प्रवर्तते।
पुनर्निमित्तापाये तु शान्त एव प्रलीयते॥

इत्यादिना रसान्तरप्रकृतित्वमुपसंहृतम्।

यत्तु डिमे हास्यशृङ्गारपरिहारेण षड्रसत्वं च वक्ष्यते तत्रायं भाव:। 'दीप्तरसकाव्ययोनि:' (ना०शा० १८-८५) इति भाविना लक्षणेन रौद्रप्रधाने तावड्डिमे तद्विरुद्धस्य शान्तस्य सम्भावनैव न, किं निषेधेन। शान्तासम्भवे तु दीप्तरसकाव्ययोनिरित्येतेन किं व्यवच्छेद्यम्। 'शृङ्गारहास्यवर्जं षड्रसयुक्तम्' (ना०शा० १८-८४) इति ह्युक्ते कस्तत्र प्रसङ्ग:।

ननु करुणबीभत्सभयानकप्राधान्यमनेन पादेन व्यवच्छेद्यते। नैतत्। 'सात्त्वत्यारभटीवृत्तिसम्पन्न:' (१८-८८) इत्यनेनैव तन्निरासात्। शान्ते तु सात्त्वत्येव वृत्तिरिति तद्व्यवच्छेदकमेवैतत्। तेन डिमलक्षणं प्रत्युत शान्तरसस्य सद्भावे लिङ्गम्। शृङ्गारस्तु प्रसभं सेव्यमान: सम्भाव्य एव। तदङ्गं च हास्य इति तयोरेव प्रतिषेध: कृत: प्राप्तत्वात्सर्वसाम्याच्च। विशेषतो वर्णदेवताभिधानमनुचितमप्यस्य तत्कल्पितमिति ज्ञेयम्। उत्पत्तिस्तु शान्तस्यापि दर्शितैव। सत्त्वाभावो हि हास्य:। सहविभावत्वेन चास्य वीरबीभत्सौ। अत एवास्य रसस्य यमनियमेश्वरप्रणिधानाद्युपदेशेऽनुपयोगितया महाफलत्वं सर्वप्राधान्यमितिवृत्तव्यापकत्वं चोपपन्नमित्यलमतिप्रसङ्गेन।

तत्त्वास्वादोऽस्य कीदृश:? उच्यते—उपरागदायिभिरुत्साहरत्यादिभिरुपरक्तं यदात्मस्वरूपं तदेव विरलोम्भितरत्नान्तरालनिर्भासमानसिततरसूत्रवदाभातस्वरूपं सकलेषु रत्यादिषूपरञ्जकेषु तथाभावेनापि सकृद्विभातोऽयमात्मेति न्यायेन भासमानं परोन्मुखतात्मसकलदु:खजालहीनं परमानन्दलाभसंविदेकत्वेन काव्यप्रयोगप्रबन्धाभ्यां साधारणतया निर्भासमानमन्तर्मुखावस्थाभेदेन लोकोत्तरानन्दाय तथाविधहृदयं विधत्त इति।

एवमेते रसा ज्ञेया नव लक्षणलक्षिता:।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि भावानामपि लक्षणम्॥ ८३॥

इति भारतीये नाट्यशास्त्रे रसाध्याय: षष्ठ:॥

एवं ते नवैव रसा:। पुमर्थोपयोगित्वेन रञ्जनाधिक्येन वा इयतामेवोपदेश्यत्वात्। तेन रसान्तरसंभवेऽपि चार्षप्रसिद्ध्या सङ्ख्यानियम इति यदन्यैरुक्तं तत्प्रत्युक्तम्। भावाध्यायेऽपि चैतद्वक्ष्यते। आर्द्रतास्थायिक: स्नेहो रस इति त्वसत्। स्नेहो ह्यभिषङ्ग:। स च सर्वो रत्युत्साहादावेव पर्यवस्यति। तथा

हि—बालस्य मातापित्रादौ स्नेहो भये विश्रान्तः। यूनोर्मित्रजने रतौ। लक्ष्मणादौ भ्रातरि स्नेहो धर्ममय एव। एवं वृद्धस्य पुत्रादाविति द्रष्टव्यम्। एषैव गन्धस्थायिकस्य लौल्यरसस्य प्रत्याख्याने सरणिर्मन्तव्या। हासे वा रतौ वान्यत्र पर्यवसानात। एवं भक्तावपि वाच्यमिति।

अध्यायार्थमुपसंहरन् भाविनोऽवकाशं ददत्सङ्गतिं प्रकटीकर्तुमाह—एवमेते रसा ज्ञेया नवेति। रसमूला एवोपचारा इति दर्शयति—लक्षण-लक्षिता इति। भावानामपि लक्षणं रसलक्षणमेव पूरयति। विभावव्यभिचार्यनुभावलक्षेन रसलक्षणमेव पूर्यते। रतिस्थायिभावप्रभवः ॠतुमाल्यादिविभावको नयनचातुर्याद्यनुभावक इत्युक्तमपि साकाङ्क्षमेव। कीदृशी हि रतिः कश्च विभावः कश्चानुभावः। तेन यद्यप्यापाततो भावानां लक्षणमिदं प्रतिभाति साहचर्यात् तथापि वाक्यैकवाक्यतया रसलक्षणमेवेदमित्यपिशब्दस्यार्थ इति शिवम्।

इ (र) त्यादिशक्त्यष्टकमध्यवृत्तिर्यस्य स्वहृन्मणडलसम्प्रयोज्या।
स्थायी शिवश्चेतसि तेन वृत्तिः कृता रसाध्याय इह क्रमेण॥

इति श्रीमहामाहेश्वराभिनवगुप्तविरचितायां नाट्यवेदविवृतावभिनवभारत्यां

रसाध्यायः षष्ठः

समाप्तः

संस्कृत साहित्य

प्रारम्भिक रचनानुवाद कौमुदी	डॉ० कपिलदेव द्विवेदी
रचनानुवाद कौमुदी	डॉ० कपिलदेव द्विवेदी
प्रौढ-रचनानुवाद कौमुदी	डॉ० कपिलदेव द्विवेदी
संस्कृत-व्याकरण एवं लघुसिद्धान्त कौमुदी (सम्पूर्ण)	डॉ० कपिलदेव द्विवेदी
संस्कृत-निबन्ध-शतकम्	डॉ० कपिलदेव द्विवेदी
भाषा-विज्ञान एवं भाषा-शास्त्र	डॉ० कपिलदेव द्विवेदी
अर्थ विज्ञान और व्याकरण दर्शन	डॉ० कपिलदेव द्विवेदी
वैदिक साहित्य एवं संस्कृति	डॉ० कपिलदेव द्विवेदी
अभिनव रस सिद्धान्त	डॉ० दशरथ द्विवेदी
अभिनव का रस-विवेचन	नगीनदास पारेख तथा डॉ० दशरथ द्विवेदी
वक्रोक्तिजीवितम्	डॉ० दशरथ द्विवेदी
ध्वन्यालोक (दीपशिखा टीका सहित)	डॉ० चण्डिकाप्रसाद शुक्ल
मृच्छकटिक : शास्त्रीय, सामाजिक एवं राजनीतिक अध्ययन	डॉ० शालग्राम द्विवेदी
उपरूपकों का उद्भव और विकास	डॉ० इन्द्रा चक्रवाल
संस्कृत साहित्य का अभिनव इतिहास	डॉ० राधावल्लभ त्रिपाठी
संस्कृत साहित्य की कहानी	उर्मिला मोदी
संस्कृत का भाषाशास्त्रीय अध्ययन	डॉ० भोलाशंकर व्यास
वेद व विज्ञान	स्वामी प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती
पालि-प्राकृत-अपभ्रंश-संग्रह	डॉ० रामअवध पाण्डेय तथा डॉ० रविनाथ मिश्र
पालि-साहित्य का इतिहास	डॉ० कोमलचन्द्र जैन
शांकरवेदान्ते तत्व-मीमांसा	डॉ० के० पी० सिन्हा
शृङ्गारमञ्जरी सट्टकम् (श्रीमद्विश्वेश्वर)	सं० बाबूलाल शुक्ल
मुद्राराक्षसम्	सं० डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी
मेघदूतम् (कालिदास)	डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी
दशरूपकम्	डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी
अभिज्ञानशाकुन्तलम्	सं० डॉ० शिवशंकर गुप्त

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी